

ISSN 2277-5587

# Shodh Shree

(Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

## शोध श्री

Year-4, Volume - I Jan.-March 2014 RNI No. RAJHIN / 2011 / 40531



CHIEF EDITOR  
**Virendra Sharma**

EDITOR  
**Dr. Ravindra Tailor**

[shodhshree@gmail.com](mailto:shodhshree@gmail.com)

Shodh Shree

Year-4

Volume - I

Jan.-March 2014

# Shodh Shree

(Referred Journal of Multidisciplinary Research)

**Virendra Sharma**  
Chief Editor  
Head of Department (History)  
Government P.G. College, Bundi

**Dr. Ravindra Tailor**  
Editor  
Shodh Shree,  
Jaipur

## Editorial Board

**Prof.H.S.Sharma (Retd.)**  
University Of Rajasthan, Jaipur

**Prof.T.K.Mathur (Retd.)**  
M.D.S. University, Ajmer

**Prof. Ravindra Kumar Sharma**  
Kurukshetra University, Kurukshetra (Haryana)

**Sarah Eloy**  
Museum The House of Alijn, Belgium

**Prof. B.P.Saraswat**  
Dean of Commerce  
M.D.S. University, Ajmer

**Prof. Pushpa Sharma**  
Kurukshetra University, Kurukshetra (Haryana)

**Dr. Rajesh Choudhary**  
Assistant Director (Research)  
Indian Council of Historical Research, NewDelhi

**Dr. Pankaj Gupta**  
Government P.G.College, Kotputli

## Advisory Board

**Prof.S.P.Vyas**  
Jainarayan Vyas University, Jodhpur

**Prof.S.N.Tailor (Retd.)**  
S.D.Government P.G.College, Beawar

**Dr. Mahesh Narayan**  
Archivist (Retd.)  
National Archives of India, NewDelhi



# Shodh Shree

(Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

## CONTENTS

Year - 4

Volume - 1

Jan. - March, 2014

- |     |   |    |
|-----|---|----|
| 1.  | वैदिक वाङ्मय में नारी के सामाजिक अधिकार एवं कर्तव्य<br>डॉ. राजरानी शर्मा, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)   | 01 |
| 2.  | कालिदास की प्रकृति और रस सिद्धान्त<br>ऋतु दीक्षित, आगरा (उत्तर प्रदेश)  | 04 |
| 3.  | अद्यतन चुनौतियाँ और साहित्य का प्रयोजन<br>डॉ. इला शुक्ला, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)   | 09 |
| 4.  | प्रकृति से प्रगति तक का काव्य पथिक : पंत<br>डॉ. अलका मौर्य, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)   | 12 |
| 5.  | प्रशिक्षु-शिक्षकों की समस्याएँ : निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के संदर्भ में<br>सुधीर कुमार शर्मा, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)  | 15 |
| 6.  | शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन के उपरान्त<br>वाराणसी जिले के प्राथमिक विद्यालयों में संरचनात्मक सुविधाओं का अध्ययन<br>डा. बुद्ध प्रिय, बोध गया (बिहार), श्रीमती रुचि सुमन, जोधपुर | 24 |
| 7.  | संगीत सम्राट मियॉ तानसेन के गुरु - अष्टछाप कवि - गोविंदस्वामी<br>डॉ. नमिता त्रिपाठी, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)  | 27 |
| 8.  | बालिका भ्रूण हत्या : एक अक्षम्य अपराध<br>डा. रमा शर्मा, कोटा  | 30 |
| 9.  | नक्सल विरोधी अभियान "सलवा जुद्धम" : एक अध्ययन<br>दीपिका चक्रवर्ती, जबलपुर (मध्यप्रदेश)  | 34 |
| 10. | सतत विकास और पर्यावरण संरक्षण<br>डॉ. प्रेमलता परसोया, कोटा  | 37 |
| 11. | भारतीय चित्र परम्परा के विकास क्रम में राजस्थान में अमूर्तवाद का विवरण<br>अचल अरविन्द, कोटा   | 42 |
| 12. | भारतीय जीवन बीमा निगम की कार्यप्रणाली का मूल्यांकन (कर्मचारियों के संदर्भ में)<br>डॉ. सपना चावला एवं राजकुमारी सेन, जबलपुर (मध्यप्रदेश)   | 45 |
| 13. | भारतीय अर्थव्यवस्था में गांधी जी की भूमिका<br>श्रीमति सुमन गुप्ता, कोटा   | 51 |
| 14. | राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग : संगठनात्मक एवं कार्यात्मक अध्ययन<br>डॉ. वन्दना शर्मा, कोटा  | 55 |
| 15. | जैन साहित्य में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल<br>डॉ. संजीवकुमार गोधा, जबलपुर  | 59 |
| 16. | <b>Study the Secondary School Students' Study Habits In<br/>Relation to Their Emotional Maturity</b><br>Alka Dutt, Delhi  | 71 |

17.	<b>A Study of Career Maturity of Female Adolescent Students in Relation to Their Locality at Senior Secondary Level</b> Nishi Tyagi, Ghaziabad (Uttar Pradesh)	75
18.	<b>'Wuthering Heights' : A Woman's Voice for Contentment</b> Dr. Rajeev Dubey, Shivpuri (Madhya Pradesh)	81
19.	<b>Significance of Education in the view of Dr. S. Radhakrishnan</b> Naresh Kumar, Chittorgarh & Dr. Manveer Singh, Badaun (Uttar Pradesh)	84
20.	<b>Women in World: A Comparative Study</b> Dr. Prerna Singh Lavanla, Jaipur & Dr. Prem Singh, Alwar	89
21.	<b>Role of Microfinance in Economic Development with special Reference to U.P.</b> Tanu, Delhi	94
22.	<b>A Rising Epidemic : Overweight and Obesity in Adolescent Girls in Jhalawar, Rajasthan</b> Dr. Savita Swami, Jhalawar & Shruti Hada, Kota	99
23.	<b>Corporate Social Responsibility of Corporate "Is CSR Corner Stone for Enduring Success?" A Case Study of Indian Oil</b> Manish Madan, Jaipur	102
24.	<b>Saving, Investment, and Growth : Changing Perceptions</b> Dr. Shobha Chaturvedi, Jaipur	108
25.	<b>Innovative HR Practices</b> Swati Chauhan, Jaipur	114
26.	<b>The Business and The Society</b> Smriti Dixit & Dr. Shalini Chaturvedi, Jaipur	119
27.	<b>Heritage Tourism: A Way to Preserve History</b> Navdeep Rathore, Jaipur	123
28.	<b>Financial Institutions of India</b> Dr. Chitra Rathore, Jaipur	128
29.	<b>Iswar Chandra Vidyasagar: An Analysis</b> Nirmala Shah, New Delhi	135

## वैदिक वाङ्मय में नारी के सामाजिक अधिकार एवं कर्तव्य

डॉ. राजरानी शर्मा

विभागाध्यक्ष हिन्दी, शा.क.रा.क.महाविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

**क** ई शताब्दियों से आर्य जाति ही नहीं सम्पूर्ण मानवता जिन ग्रंथों के अमृतत्व से जिजीविशा अर्जित करती आयी हैं उन्हीं को हम 'वेद' - 'अपौरुषेय' कहते हैं। अपौरुषेय शायद इसलिए कि उनमें निर्दिष्ट दूरदर्शितापूर्ण शाश्वत एवं बहुआयामी प्रकाश की परिकल्पना मानव मस्तिष्क से निःसृत मानना असंभव सा लगता है। वैदिक वाङ्मय जो कि स्थूल रूप से धार्मिक कर्मकांड से सम्बद्ध समझा जाता है। आश्चर्यजनक रूप से सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक चैन्तनिक निष्कर्षों को प्रकीर्ण करता है। वैदिक ऋषियों की आर्ष वाणी अपने अद्भुत आर्जव में भी जीवन में व्याप्त निराशा, अज्ञान, अंधकार, दुर्विचार, अनाचार, आधि-व्याधि एवं दुर्गुणों को दूर करने में पग पग पर मानवता का पथ आलोकित करती आयी है।

वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति आदरसूचक एवं महत्वपूर्ण थी। उनकी शिक्षा दीक्षा की सुंदर व्यवस्था थी तथा स्त्रियाँ सामाजिक कार्यों में प्रधान भूमिकाओं का निर्वाह करती थीं। ऋषिकाएँ आदरणीय मानी जाती थी जिनके द्रष्ट मंत्र उल्लेखनीय थे। ब्राह्मण ग्रंथों में भी नारी का गौरव वर्णित है।

'अर्थो वाएश आप्सः यत् पत्नी।'

अयज्ञो वा एज' । योघपत्नीकः।

यावत् जाया न विन्दते, असर्वो हि तावत् भवनि।'

न वै स्वियं ध्वन्ति।'

अर्थात् स्त्रियों का अपमान नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति में यत्र-तत्र स्त्रियों के महत्व का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी स्त्रियों के आचार विचार की आदर्श संहिता का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक वर्णन मिलता है। जो तत्कालीन संदर्भों में ही नहीं आज भी प्रासंगिक है।

अधः पर्यस्व योपरि, संतरां पादकौ हर।

गा हे कशप्लकों दूशन्, स्त्री हि ब्रह्मा वभूविद्य।।

अर्थात् हे नारी! तू नीचे की ओर देखा कर, ऊपर की ओर नहीं। अपने पैरों को मिलाकर रखा कर। तेरी जंघाएँ न दिखाई पड़े। क्योंकि स्त्री ब्रह्मा के समान है। ब्रह्मा वेदों के ज्ञाता हैं और स्त्री का प्रथम कर्तव्य भी संतति को ज्ञानवान बनाना है अतः उसे गुरु रूप में आचारवान होना ही चाहिए।

स्वेर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद, छेवनां सुम्ने बृहते रणाय।

पितेर्विधि सुनव आ सुशेवा। खावेशा तन्वा सं विशस्वा।।'

अर्थात् अपनी योग्यता से परिवार में प्रतिष्ठित होना, देवों (गुरुजनों को) सुख देना और आनन्द का वातावरण बनाना, परिवार को सुखी बनाना साथ ही अपने आपको सुखी अनुभव करना स्त्री का कर्तव्य है। निश्चित ही इस मंत्र का मनोवैज्ञानिक महत्व एवं फलित दूरगामी है। स्त्री का अधिकार है सम्मान पाना तो प्रत्येक क्षेत्र में दक्ष होना उसका कर्तव्य भी है।

अघोर चक्षुरपतिदन्येधि,  
शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चा।  
वीरसूर्देवकामा स्योनां  
शं नो भय द्विपदे शं चतुष्पदे॥<sup>1</sup>

निश्चित रूप से ही स्त्री परिवार के केन्द्र में है अतः दृष्टि संक्षेप उसकी वाणी उसके मनोविज्ञान का पूरे परिवार पर विशेष प्रभाव पड़ता है अतः वेदों में सम्पूर्ण चैतन्यपूर्वक उस तथ्य को स्थापित किया गया है पुनः रेखांकित किया गया है कि स्त्री अति महत्वपूर्ण केन्द्रक है। महत तत्त्व के कारण ही उसे इतना कुलीन इतना आचारवान् श्रेष्ठ एवं उदस्त आचरण करना बहुत आवश्यक है इसलिए मंत्र में कहा गया है कि वह देवकाया हो। देवकाया का उसमें ईशभक्ति। आरितकला एवं आध्यात्म का भाव जागृत होना चाहिए। क्योंकि ईशभक्ति से मनुष्य में सात्विकता, मनोबल और आत्मबल आता है। ऐसी मनःशक्ति सम्पन्न स्त्री ही कल्याणी सुखदा और परहितकारिणी हो सकती है। इसी प्रकार स्त्रीत्व को सम्पूर्ण कल्याणकारी भूमिका में अवतरित होने के लिए प्रेरणा स्रोत बनता है निम्न मंत्र-

शिवा भवपुरुषेभ्यो, गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इतैधि॥<sup>2</sup>

यहां 'क्षेत्राय शिवा' पदबंध सार्थक एवं प्रतीकात्मक दृष्टि से प्रयुक्त है। क्षेत्र का अर्थ श्वेत भी है और पारिवारिक अथवा सामाजिक क्षेत्र भी है। दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में स्त्री दूरदर्शी, अग्रणी, सेवाभावी बनकर सम्मान अर्जित कर न कि सम्मान की याचक बने, ऐसा वैदिक ऋषि के अभीष्ट हैं।

इसी प्रकार नारी के सामाजिक अधिकारों का विशद वर्णन स्त्रीत्व की गरिमा, कुलीनता एवं उदात्तता की रक्षा हेतु समाज के स्त्री के प्रति क्या कर्तव्य हैं। इस सबका उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलता है। साथ ही समानान्तर भाव से नारी के सामाजिक कर्तव्यों पर भी स्पष्ट रूपेण एवं अग्रप्रस्तुति के साथ बल दिया गया है। जैसे-स्त्री को मधुरभाषिणी होना सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है-

तदित्ये छन्त्सद् वपुषो वपुष्टं

पुत्रो यज्ज्ञान पित्रोर्धीयति।

जाया पतिं बहति वसुना सुमत्।

पुंस इद् भद्रो बहतुः परिष्कृतः।<sup>3</sup>

अर्थात् मृदुभाषिणी स्त्री ही सर्वत्र विजयिणी होती है। इसी प्रकार पतिव्रत धर्म का निर्वाह करना भी स्त्री का अन्यतम कर्तव्य है-

देवो न यः पृथिवीं विश्वधारा

उपक्षेति हितमित्रो न राजा

पुनः सदः शमसदो न वीरा

अनवधा पतिजुष्टेव नारी॥<sup>4</sup>

अर्थात् जिस प्रकार समाज में सूर्यवत् राजवत् एवं वीरवत् पुरुष सम्मान का पात्र है उसी प्रकार सती स्त्रीवत् नारी ही केवल सम्मान की पात्र है। पतिव्रता स्त्री को अग्रितुल्य बताया गया है। वेदों में सती स्त्री सम्माननीयों के लिए उपमान मानी गयी है। स्त्री का अन्य नैतिक सामाजिक कर्तव्य है-

अभिप्रवन्त समनेव योषाः

कल्याण्यः स्मयभानासो अग्रिम्।<sup>5</sup>

धृतस्य धारा स्निग्धो नसन्त,

ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः।<sup>6</sup>

इस प्रकार सदैव प्रसन्नचित्त रहने का समरागशे स्त्री को अत्यन्त अलंकारों से विभूषित होने का उपक्रम करता है। प्रसन्नचित्त रहने जैसी सूक्ष्म व्यंजना मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रसन्नचित्त स्त्री शोक, क्लेश, विषाद और भय से दूर रहती है। उसका चित्त निर्मल और सौंदर्य अशुष्ण रहता है। परिश्रमो स्त्रियों वैदिक ऋषि को समाज की धाती, न्यास और धरोहर सी लगती है। क्योंकि परिश्रम करना मनुष्य की उन्नति का मूलमंत्र है। परिश्रमी स्त्रियाँ सहृदय और सर्वांगीण होती हैं। अश्रय दियमर्यमन् अन्यासां समयं यती।

अङ्गोन्वयमन् अस्या, अन्या, समनमायति॥<sup>7</sup>

इस मंत्र में स्त्रियों को लोकप्रियता की शिक्षा देते हुए ऋषि कहते हैं। सहृदयता और पुरुषार्थ स्त्री को लोकप्रिय बनाते हैं। पुरुषार्थ का दोहरा महत्व है। जहां यह लोक में प्रतिष्ठा व स्नेह दिलाता है वहीं व्यक्तिगत सौभाग्य भी इसी से फलित होता है। अतः यह भी कर्तव्य से अधिक नैतिक आचार संहिता का अस्व अधिक समझा जायेगा। इन्द्राणी उस युग की प्रखरतम महिला के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका शौर्य, साहस एवं गुणराशि उसमें आत्मविश्वास भरती रहती है-

न मत् स्त्री सुभसत्तरा, न सुभाशतरा भवत्।

न मत् प्रतिच्यवीयसी, न राक्थ्युअमीयसी

विश्वस्माद्रिन्द्र उत्तरः।<sup>8</sup>

उक्त उदाहरण में इन्द्राणी व्याजोक्ति से अपने पति इन्द्र को श्रेष्ठ बताकर अपने गुणों का वर्णन करती है। बलि को विश्व में सर्वाधिक आदरणीय बताकर इन्द्राणी भी श्रेष्ठ महिला बन जाती है। कालिदार ने भी स्वीकारा है -

'प्रियेषु सौभाग्य फल्य हि चारुता।'<sup>9</sup>

अर्थात् पति की प्रसन्नता ही स्त्री के सौन्दर्य का चरम लक्ष्य है। किन्तु यह भी सत्य है अधिकारों के मूल स्रोत स्त्री द्वारा अपने लिए निर्दिष्ट कर्तव्यों का चारुता एवं गंभीरता से निर्वाह किए जाने में ही संनिहित है

पशा ते कुलपा राजन्<sup>10</sup>

अर्थात् नारी कुल या वंश की रक्षक है, प्रतिष्ठा है 'कुलपा' शब्द सोद्देश्य एवं अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण है।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये मृतेभ्यः।

स्योनाहस्यै सर्वस्वै विशे स्योना पुष्ययैषां भव॥<sup>11</sup>

अर्थात् स्त्री सभी को सुख देने वाली बने। इस कारण से स्त्री दमन बांछित नहीं है अपितु समाज की प्रथम इकाई परिवार को सुदृढ़, सुखद एवं संतुष्ट और सम्पन्न बनाने की इच्छा है। स्वस्थ परिवार ही स्वस्थ समाज की आधार शिला है अर्थात् उदार स्त्री समाज में कृपण पुरुष से अधिक बंदनीय मानी जाती है। क्योंकि उदारमना व्यक्ति का तेज बढ़ता है प्रसन्नता बढ़ती है। यही नहीं स्त्रियों को साथ साथ यज्ञ

करने का कर्तव्य मिश्रित अधिकार है, वे युद्ध में भी जाती हैं-

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं नाव गच्छति।

वे धा ऋतस्य वीरिणी, इन्द्रपत्नी महीयते,

विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।<sup>14</sup>

अर्थात् शची युद्ध में जाती है। यज्ञ में स्त्रियाँ ओ रहे यह भी निर्देश है।

आ रोहन्तु जनयो योनिमग्ने।<sup>15</sup>

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों में स्त्रियों के आचार व्यवहार पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि वह आत्मतत्त्व के रूप में संतति को जन्म देती है इसलिए वैदिक वाङ्मय में यत्र तत्र कुलायिनी पुरन्धि, जामा, कुलपा, श्री, तेजस्विनी, गृहस्वामिनी साम्राज्ञी, सहस्रकीर्या, विजयिनी, अघृष्य, अपराजिता आस्तिक, आदरणीया, सुखदा, कल्याणी, पुरोध्या सौम्या एवं सेनानी कहा गया है। जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल की स्त्रियों पर 'मृदुनि कुसुमादपि वज्रादपि कठोराणि' की उक्ति सटीक सिद्ध होती है। यही नहीं वेदों में नारी की शील रक्षा को राष्ट्रीय उत्तरदायित्व भी बताया गया है।

इसी प्रकार यजुर्वेद में स्त्री को सुन्दर गृहिणी एवं श्री समृद्धि बनाने युक्त बनने की कामना की गयी है।

कुलायिनी धृतवती पुरन्धिः

स्योने सीद सदने पृथिव्याः।

अभि त्वा रुद्रा सबवो गृजन्तुः।

इमा ब्रम्ह पीपिहि सौभगाय।<sup>16</sup>

यह भी कहा गया है कि रुद्र और 8 वसु तुम्हारी सदैव प्रशंसा करें। पुरन्धि अर्थात् योग्य, दक्ष और विदुषी हो। विदुषी का ही नगर में सम्मान होगा तथा मेधा ही उसे जागरूक नागरिक बनायेगी।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना

दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।

गृहान गच्छ गृहपत्नी यथासौ।

दीर्घं तं आयुः सविता कृणोतु॥<sup>17</sup>

विदुषी एवं मेधावी स्त्री की प्रज्ञा उसे दीर्घायु शतशारदीय बनायेगी अर्थात् स्त्री से व्यापक दृष्टिकोण सम्पन्न नागरिकता युक्त होने की अपेक्षा करना समाज में उसके महत्व को निर्दिष्ट करता है। वैदिक वाङ्मय में पुनः पुनः शचीका उदाहरण श्रेष्ठ निदर्शन के रूप में देने से यह ज्ञात होता है कि स्त्री वैदिक काल में अभिनन्दनीय, वंदनीय एवं प्रशंसनीय मानी जाती है। किन्तु उदार एवं गुणवान् स्त्रियाँ ही प्रशंसा की पात्र होती थी-

वि या जानति जसुरिं, वि तष्यन्तं वि कामिन्म्

देवत्रा कृणुते मनः।<sup>18</sup>

नारी ब्रम्हा (ज्ञानदात्री) विष्णु (पालक) दोनों का निर्वाह करती है अतः उसके आचरण मर्यादा के कठोर निष्कर्ष पर कसकर तय किए गए थे। यद्यपि नारी के सामाजिक स्थान एवं अधिकार कर्तव्य और गौरव पर चर्चा की गई है किन्तु आर्थिक अधिकारों के विषय में 'दायभाग' में संक्षिप्त चर्चा के अतिरिक्त कोई उल्लेख नहीं मिलता। निष्कर्ष यह है कि वैदिक वाङ्मय में नारी के लिए प्रस्तुत आचार

संहिता यद्यपि कठोर लगती है परन्तु वे शाश्वत है प्रासंगिक है तथा गंभीर चिंतन मनन की उपज है। यह इसी बात से सिद्ध है कि आज भी समाज नारी से वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट आचार संहिता के पालन की अपेक्षा रखता है। वेद हमारी आदर्श प्रज्ञा एवं सौम्य संस्कृति के प्रतिनिधि प्रकाश स्तम्भ हैं अतः उनमें 'निष्कर्ष' है जो दुःसाध्य हो तो भी प्रशंसनीय एवं कल्याणकारक है। ऐसे निष्कर्ष पर खरी उतरने वाली जाया ही ओजस्वी, तेजस्वी, वीर एवं मेधावी राष्ट्र निर्माताओं का निर्माण करेगी।

यह प्रसंगेतर बात भी उल्लेखनीय है कि हम प्रायः वैदिक सूक्तों ऋचाओं एवं मंत्रों को प्रासंगिक या प्रयोजनमूलक रूप से व्याख्यायित करते हैं और गलत व्याख्यायें या पूर्वाग्रह किस तथ्य को गलत सिद्ध नहीं कर सकते हैं, संदर्भ बदल सकते हैं। किन्तु शाश्वत मूल्य एवं दूरगामी दृष्टिकोण से प्रेरित आचार संहिताएँ सदैव प्रासंगिक होती हैं।

कल्याण कामनायें अमर हैं, सुख की कामना अमर हैं। विश्व बंधुत्व की शांति और सद्भाव की कामना अमर है। जब तक मानव जाति है तब तक परहित प्रासंगिक है, समाजहित और राष्ट्रहित अपेक्षित है अतः तब तक बालक को नागरिक बनाने वाली प्रथम गुरु मातृत्व की प्रतिमा को वेदप्रेरित या वेद अभीप्सित रूप न केवल प्रासंगिक है अपितु आदर्श मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण एवं अप्रत्यक्ष हितों के लिए दलित द्राक्षा के समान 'निः स्व' हो जाने वाली उदात्तमना नारियों की भारत ही नहीं पूरे विश्व को आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1 तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.3.3.5
- 2 शतपथ ब्राह्मण 5.2.1.10
- 3 शतपथ ब्राह्मण 11.
- 4 3.2.4 यजुर्वेद 14.3
- 5 ऋत् 10.85.44
- 6 अथर्व 3:28.3
- 7 ऋत्. 10.32.3
- 8 ऋत् 1.73.3
- 9 ऋत् 4.5.8.8
- 10 यजु. 17.96 ऋत् 10.87.7
- 11 अथर्व 6.60.2
- 12 ऋत् 10.87.7
- 13 कुमार संभव 5-1
- 14 अथर्व 1.14.3
- 15 अथर्व 14.2.27
- 16 ऋत् 10.86.10
- 17 अथर्व 12.2.31
- 18 यजु 14.2
- 19 अथर्व 14.2.75
- 20 ऋत् 5.61.7

# कालिदास की प्रकृति और रस सिद्धान्त

ऋतु दीक्षित

शोध छात्रा, डी.ई.आई., डीम्ड विश्वविद्यालय, दर्याल बाग, आगरा (उत्तर प्रदेश)



shodhshree@gmail.com

# सं

स्कृत साहित्य शास्त्रियों का ध्यान अधिकाधिक वस्तु रूप काव्य-विषय की ओर रहा है। क्योंकि भारतीय आचार्य काव्य को विश्लेषण का विषय बनाना चाहते थे। बाद में ध्वनिवादियों और रस सिद्धान्तवादियों ने काव्य की अभिव्यक्ति में 'काव्य-आत्मा' को भी स्थान देने का स्तुत्य प्रयास किया। किन्तु इनमें काव्य की उस संवेदक प्रभावशीलता की स्थापना है, जो भावज्ञ पाठक के मन के सौन्दर्य बोध का कारण है। इन सिद्धान्तों में कवि की मनःस्थिति अथवा काव्य की अनुभूति पक्ष का स्पष्टतः समन्वय नहीं हुआ है। काव्य कवि की किस प्रकार की मानसिक चेतना की अभिव्यक्ति है, इस ओर आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया। इस विषय में डॉ. एस.के. डे की टिप्पणी विचारणीय है- भारतीय सिद्धान्तवादियों ने अपने कार्य के एक महत्वपूर्ण अंग की अवहेलना की है। यह काव्य-विषय की प्रकृति के कवि की मनःस्थिति के रूप में समझकर काव्य की व्याख्या करना है, जो पारचात्य सौन्दर्य शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है। 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' की स्वीकृति इस ओर संकेत अवश्य करती है कि भारतीय आचार्यों में इस बात की चेतना थी। परन्तु उन्होंने पूर्ण-रूप से इस ओर ध्यान न देकर आंशिक रूप से विचार किया है।'

उक्त दोनों अलंकारों के इंगित के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में 'प्राकृतिक दृश्य' विधान हेतु जो आचार्य उल्लेखनीय हैं, उनमें आचार्य भरत तथा आचार्य विश्वनाथ प्रमुख हैं। आचार्य भरत ने-

कदम्ब-निम्ब-कुटजः शाद्वलः सेन्द्रगोपकैः।

मेघैर्वातिः सुखस्पर्शः प्रावृट्काल प्रदर्शयेत्॥

इत्यादि का कथन कर प्रकृति प्रियता का परिचय तथा आचार्य विश्वनाथ ने-

सन्ध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः।

प्रातर्मध्याह्न-मृगया-शैलर्तुवन - सागराः॥'

कहकर प्रकृति को अपरिहार्य बताया। इससे स्पष्ट है कि भारतीय आचार्य प्रकृति की रसात्मक से सुपरिचित थे, किन्तु 'प्रकृति' और 'रस' को समीकृत कर 'प्रकृति रस' के रूप में स्थापित नहीं किया गया, यह आश्चर्य की बात है। 'प्रकृति और रस' एवं 'प्रकृति और काव्य' का साहाचार्य कितना प्राचीन है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भगवान् वेद अथाह 'प्रकृति रस' से आप्लावित हैं। हम वैदिक काव्य में मानव तथा प्रकृति को जीवन के एक ही उल्लासमय प्राणतत्त्व में स्फुरित पाते हैं। एक ओर प्रकृति का प्रत्यक्ष दृश्यबोध है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारे, सायं-प्रातः-सन्ध्यायें, लाल-नीला आकाश, अन्धकार-प्रकाश, मेघ, पवन, समुद्र, सरिता, विद्युत्, वन, वृक्ष, अग्नि, वर्षा, पशु-पक्षी सभी को चित्रमय और भावमय स्थान मिला है। दूसरी ओर इनमें व्याप्त सत्ता के रूप में इन्द्र, वरुण, उषा, पवन, पृथ्वी, अग्नि, रुद्र आदि देवता हैं। साथ ही इनके माध्यम से क्रान्तदर्शी कवि सत्य, अमृत, शक्ति, प्रकाश, ऊर्जा, स्फूर्ति, पराक्रम, संघर्ष, आवेग-संवेग, तृप्ति, क्षमा, मैत्री, सौमनस्य तथा साहचर्य आदि मानवीय गुण और प्रत्ययों का आह्वान भी करता है।

इस प्रकार वैदिक दृष्टि भारतीय चिन्तन की आधारशिला है, जिसमें एक ओर मानवीय जीवन व्यापक प्रकृति का अंग है और दूसरी ओर प्रत्यक्ष के स्थान पर परोक्ष सत्ता तथा बाह्य सौन्दर्य के स्थान पर आन्तर सौन्दर्य की खोज है। वैदिक कवि का प्रकृति के प्रति विस्मय, आद्वाद, उद्गास, तन्मय भाव उसको अपने जीवन के साथ समरस भाव से ग्रहण कर लेने के कारण है। यही नहीं, मन्त्र दृष्ट कवि ने प्रकृति की सत्ता से अपनी अनुकूलता स्थापित करने की प्रार्थना की है-

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्तवीषयीः॥  
मधु नक्तमुतोषसी मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुञ्जीरस्तु नः पिता॥  
मधुमाज्ञो वनस्पतिर्मधुभां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

रसशास्त्र में व्याख्यात 'मधुमती भूमिका' की वस्तुतः यही भावभूमि है। अस्तु, यहाँ यही तथ्य उल्लेखनीय है कि वैदिक काव्य उत्तम कोटि का अजर-अमर-काव्य है, दिव्य काव्य है- 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' इसकी अजरता-अमरता वस्तुतः 'प्रकृति-रस' परिसिंचित है। इस परम्परा का सुन्दर निर्वाह एवं परिपाक परवर्ती साहित्य में मुख्यतः बाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति में ही मिलता है। इस श्रृंखला के सशक्त सूत्रधार हैं- 'कवि कुलगुरु कालिदास'।

कालिदास की सौन्दर्य परिकल्पना की सर्वाधिक तथा सर्वोच्च अभिव्यक्ति प्रकृति और मानव जीवन को एक ही स्तर पर, एक भावना से अनुप्राणित और सहज साहचर्य से सम्पृक्त चित्रित करने में है। कालिदास के समक्ष कोई दूसरा कवि नहीं है, और ऐसा कवि भारत में ही हो सकता था। कालिदास की पार्वती और शकुन्तला निसर्ग कन्यायें हैं, उनका निर्माण प्रकृति के सौन्दर्य तत्वों से हुआ है। वे प्रकृति जीवन में मानवीय सौन्दर्य कल्पना की चरम उत्कर्ष हैं। हर प्रकार से वे प्रकृति के व्यापक जीवन में समाविष्ट हैं। प्रकृति के विविध रूपों में, पशु-पक्षियों, लता-पादपों और पर्वत-निर्झरों से उनका आत्मीय सम्बन्ध है। प्रकृति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व में मानव के समानान्तर और समकक्ष हैं और वह जीवन के स्तर पर उसकी आत्मीय तथा सहचरी हैं और यह भाव मूलतः भारतीय है।

महाकवि कालिदास की इस भावना तथा मान्यता से प्रभावित होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यशास्त्र के लिए 'प्रकृति रस' की अवधारणा का अवदान दिया है। शुक्ल जी ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में 'प्रकृति रस' की स्थापना की है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में 'रस' की सत्ता मानी है-

जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुथी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह 'रस-दशा' नहीं तो क्या है? ... जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है?

मानव का अपनी आदिम सहचरी प्रकृति से प्रेम अब एक संस्कार बन गया है। 'प्रकृति रस' में स्पष्टतः ही प्रकृति आलम्बन है, उद्दीपन नहीं है। उसे उद्दीपन मात्र मानने वालों को शुक्ल जी ने आड़े हाथों लिया

है। उनका तर्क है-' काव्य में प्रकृति वर्णन पढ़कर हम निश्चय ही भावमय आनन्द से विभोर हो जाते हैं- यह भावमय आनन्द ही रस है, अतः प्रकृति काव्य निश्चय ही रसात्मक होता है।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल की धारणा सुस्पष्ट है। जब काव्य क्लृप्त प्रक्रिया में प्रकृति सौन्दर्यशालिनी हो सकती है, काव्योत्कर्ष के लिए उत्तमोत्तम उपमाओं के लिए जब प्रकृति शरण्य हो सकती है, तो क्या स्वयं में प्रकृति की सुन्दरता तथा रसमयता की प्रामाणिकता में सन्देह किया जा सकता है? जब कार्य रसात्मक है, तो कारण तो रसनिष्पन्दी होगा ही।

अपने मन्तव्य की पुष्टि में आचार्य शुक्ल जी ने पुनः-पुनः आदि कवि बाल्मीकि तथा कविवर कालिदास का ही उल्लेख सविस्तार किया है।<sup>10</sup> अथवा कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का 'प्रकृति रस-विवेचन' कालिदास के काव्य-रसायन का पुटपाक है। वे कहते हैं कि महाकवि कालिदास ने जो भी वर्णन किया, इब्रकर सूक्ष्म निरीक्षण पूर्वक किया है। हिमालय के वर्णन में कवि का यह श्लोक दृष्टव्य है-

भागीरथी निर्झरसीकराणां, बोधा मुहुः कम्पितदेवदारुः।  
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातरासेव्यते भिन्नशिखण्डिवहैः॥<sup>11</sup>

इस पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं-- कुमारसंभव के इस श्लोक को पढ़कर एक दिन मन जैसे पागल हो उठा था और कुछ नहीं समझा, केवल 'भागीरथी निर्झर सीकर' और 'कम्पित देवदारुः' इन्हीं दो को लेकर मेरा मन खो सा गया था। समस्त श्लोक का रस लेने के लिए मन व्याकुल हो उठा। हिरन की खोज में लगे हुए किरात के सिर पर जो मोर पंख हैं, हवा उसी को चीर रही है, यह सूक्ष्मता मेरे मन को पीड़ा देने लगी। जब पूरा नहीं समझता था, तभी अच्छा था।<sup>12</sup>

उपमायें देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तुचित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत विशेषकर पूर्व मेघ तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या, किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रदूत स्वरूप के साथ जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिए भावों का भरा पूरा भण्डार है। जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गयी है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा, ही ढूँढा करते हैं, जो अनूठी उक्तियों पर ही वाह-वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।<sup>13</sup>

कालिदास के प्रकृति चित्रण की यह विशेषता है कि जितना आकर्षण उन्होंने हरे भरे तपोवनादि के चित्रण में दर्शाया है, उससे कहीं अधिक उजाड़ खण्डहरों के प्रति व्यक्त किया है। उनका ऐसा स्वरूप सामने रखा है, जिसे अतीत स्वरूप के साथ मिलाने पर कठुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में जाकर राज्य करने लगे तब अयोध्या उजड़ गयी। एक दिन रात्रि को अयोध्या का अधिदेवता स्त्री रूप धारण कर उनके पास गया और अयोध्या की दौन-दशा का जो वर्णन किया, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है-

कालान्तर श्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणांकुरेषु।  
त एव मुक्तागुण शुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः॥<sup>14</sup>

भगवती अयोध्या की ऐसी दशा! किस सहृदय के नेत्रों को भगवान्

राम की लीला स्थली सजल नहीं कर देगी। यह अयोध्या राम और कुश की ही नहीं, हमारी भी है। इसका परिचय हमारे संस्कारों में बसा है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। यदि देश प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइये। बाहर निकलिए तो आँख खोलकर निहारिये कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से बनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर-उधर चरते हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसिये, देखिए तो क्या हो रहा है? जो मिलें उनसे दो-दो बातें कीजिए। उनके साथ किसी पेड़ की छाया में घड़ी आध घड़ी बैठ जाइये और समझिये के वे हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जाएगा, आप उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जायेंगे, तब आपके अन्तःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे।<sup>15</sup>

**सर्वस्तरतु दुर्गणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु।**

**सर्वः कामानवाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥<sup>16</sup>**

ऐसा कमनीय कलेवर है कालिदास की कविता कामिनी का। हमारी आँखें अनायास ही कालिदास की आँखों से जा मिलती हैं। शिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के दूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइये, इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदास जी हमें देर तक देखा करते थे। उस समय शिप्रावात उनके उत्तरीय को फहराता था।<sup>17</sup>

कालिदास की कविता के अनुशीलन के लिए वस्तुतः अध्येता को 'कृती' होना चाहिए, 'तत्वान्वेषी' नहीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं-... 'कृती' पाठक बेकार बातों (काव्यशास्त्रीय समीक्षा) में उलझना नहीं चाहते। वे छक कर सौन्दर्य-रस पीते हैं। कालिदास 'कृती' को धन्य मानते हैं और 'तत्वान्वेषी' को हतभाम्य'<sup>18</sup> -

**चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,  
रहस्याख्यायिव स्वनसि मृदु कर्णान्तिक चरः।  
करो व्याधुन्वत्याः पिवसि रति सर्वस्व मधरं,  
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती॥<sup>19</sup>**

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में तत्वान्वेष की ऐसी विडम्बना देखकर किसे इस व्यापार में उलझने का साहस हो सकता है। अतः उक्त 'कृती' भाव से, कालिदास की 'लघुत्रयी' स्थालीपुलाकन्यायेन अवलोकनीय है। रघुवंश-मेघदूत-शाकुन्तल इस ग्रन्थत्रयी में प्रकृति का सौन्दर्य अपने चरम पर है। वैसे तो कालिदास का सम्पूर्ण काव्य 'प्रकृति काव्य' ही है, उसमें से प्रकृति को निकाल देने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। सारे संस्कार प्रकृति से ही संशलिष्ट हैं। 'लघुत्रयी' में कालिदास ने प्रकृति को स्वयं जिया है और उतारा है। रघुवंश में वृन्दावन की भव्यता देखें-

**सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं, मृदु प्रवालान्तर पुष्पशय्ये।  
वृन्दावने चैत्रश्यादानूने, निर्विशयतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥<sup>20</sup>**

इस वृन्दावन का सुषमा-वैभव कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से भी

बढ़कर है। धनपति कुबेर के वैभव के अनुमान से चैत्ररथ उद्यान की भव्यता की अनुमिति भी सहज सुलभ है, किन्तु हमारा वृन्दावन उसे तिरस्कृत कर देता है। क्योंकि यह स्वयं 'रस रूप' है- रसधाम है। वैष्णव आचार्यों ने इस 'धामरस', 'वृन्दावनरस'<sup>21</sup> के रूप में व्याख्यात किया है।<sup>22</sup> ऐसा है वृन्दावन। जिस बात के प्रतिपादनार्थ आचार्यों, अनुसन्धाताओं तथा विद्वानों ने ग्रन्थ रच डाले, उस विश्वकवि कालिदास के उक्त एक श्लोक में सहज ही देखा जा सकता है। वस्तुतः समग्र भाव जगत् की परिधि का केन्द्र अनुभूति है। कालिदास की घनीभूत अनुभूति उनके काव्य में सर्वत्र समवेत है। मेघदूत का यक्ष 'प्रत्यक्ष कुटजकुसुमों से अर्ध्य देकर' मेघ से कहता है--

**त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भूविलासानभिज्ञैः,  
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।  
सद्यः सौरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्यमालं,  
किञ्चित्पश्चाद् ब्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥<sup>23</sup>**

ऐसे प्रीतिस्निग्ध जनपद वधुओं के लोचनों से पिये जाते हुए मेघ को कोई जड़ कहने का साहस कैसे कर सकता है। यहाँ 'पीयमानः' पद निश्चय ही असाधारण बन पड़ा है। लोचनों से पान की अनुभूति श्लोक एवं पूर्णपरिवेश की सात्विकता का उपन्यास है। लोचनों के विशेषणों- 'भूविलासानभिज्ञ', 'प्रीतिस्निग्ध' में भारतीय नारी की निष्कलुषता तथा श्लोक के शेष भाग में भारतवर्ष का परिश्रमशील कृषिधर्म स्पष्टतः ध्वनित हो रहा है। मेघ यक्ष का भाई है, इसलिए उससे अपनी 'भाभी' के पास सन्देश पहुँचाने का अनुरोध किया गया है। यह सम्बन्ध स्थापन भी विशुद्ध भारतीय धरातल पर ही सम्भव है- तां चावश्यं दिवसगणना तत्परोमेकपत्नीम्, अव्यापन्नामविहत गतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्। आशाबन्धः कुसुम सदृशं प्रायाशो हांगनानां, सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रूपन्दि॥<sup>24</sup>

इस प्रकार सम्पूर्ण मेघदूत ने भारतीय जीवनादर्श को सशक्त वाणी दी है। इसका शब्द-शब्द, पंक्ति-पंक्ति उद्धरणीय है, किन्तु सीमा अनुलंघनीय है। फलतः आलोच्य विषय की विवेचनसरणि में विश्ववाङ्मय की विभूति 'प्रकृतिरसाणव', 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' अवगाहनीय है।

'शाकुन्तल' का आलम्बन ही प्रकृति है। आद्योपान्त प्रकृति स्वयं एक पात्र के रूप में रहती है। 'या सृष्टिः सृष्टुराद्या...'<sup>25</sup> नान्दीपाठ से ही कवि के आराध्य भगवान् शिव से प्रकृति समवेत हो उठी है। उक्त श्लोक में सारे ब्राह्मण्ड का शान्त-नीरव-संयत कलरव समाहित है। प्रकृति के इस शिवत्व सन्दर्शन के अनन्तर नाटक अबाध गति से आगे बढ़ता है- तपोवन में। इस तपोवन में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आत्म भाव की रक्षा करते हुए भी मनुष्य के साथ मधुर एवं प्रगाढ़ आत्मीयता के सम्बन्ध में बंध गये हैं। यहाँ जिस प्रकार अनुसूया, प्रियम्बदा, कण्व, दुष्यन्त हैं, उसी प्रकार तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र है। इस मूक प्रकृति को कवि ने सशक्त तथा मार्मिक स्वर दिया है। यह शाकुन्तल के अतिरिक्त अन्यत्र अलभ्य है।<sup>26</sup>

प्रकृति के 'रसशील' रूप को यदि एकत्र देखने की लालसा हो और

उत्तमोत्तम सौन्दर्य का उत्कर्ष पाने की जिज्ञासा हो एवम् प्रकृति-रसामृत के आचमन की तृषा आकुल कर रही हो, तो शाकुन्तल के चतुर्थ अंक की पावन तपोभूमि में पहुँचिए। अन्यथा शाकुन्तला के पतिगृहगमनोपरान्त आप उक्त लाभ से वंचित रह जायेंगे। सर्वप्रथम शाकुन्तला का मांगलिक अलंकरण देखिये-

श्लोभं केनचिदिन्दुपाण्डुररूपा मांगल्यमाविष्कृतं,  
निष्ठयूतश्चरणोपभोग सुलभो लाक्षारसः केनचित्।

अन्येभ्यो वनदेवता करतलैरापर्व भागोत्थितैः,

दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेद प्रतिद्वन्द्विभिः॥<sup>21</sup>

अपनी पुत्री शाकुन्तला को आभरण प्रदान करने में प्रकृति की इस उदारता का साम्य विश्व में कहीं नहीं मिलेगा। एक सौभाग्यशालिनी भारतीय नारी अपने पति के घर एक बलकलवस्त्रधारिणी तपस्विनी के रूप में जाय, यह प्रकृति को सन्न नहीं है। आश्रम के उक्त चेतनाशील तरुवृन्द को शाकुन्तला ने जो अभिन्नहृदय स्नेह दिया है, वह भी दर्शनीय है-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं, युष्मास्वपीतेषु या,  
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां, स्नेहेन या पल्लवम्।

आधे वः कुसुमप्रसूतिसमये, यस्याः भवत्युत्सवः,  
सेयं याति शाकुन्तला पतिगृहं, सर्वैरनुज्ञायताम्॥<sup>22</sup>

शाकुन्तला ने कभी भी आश्रम के वृक्षों को फिलाने से पूर्व स्वयं जल नहीं पिया है... यहाँ कवि ने 'सौचिना' न कहकर 'पिलाना' कहा है। इस मंजुलता की परख सहृदय तथा संस्कारशील लोगों को ही हो सकती है। वहीं शाकुन्तला जब चली जायगी, तो उदजद्धार विरुद्दशय्य अंकुरों को देखकर काश्यप का पुत्री के वियोग का शोक कैसे शान्त हो सकेगा? काश्यप ही क्या सारा तपोवन रो रहा है। तपोवन छोड़कर जाती हुई शाकुन्तला को पग-पग पर उसे कोई चीज अपनी ओर खींचती है, पग-पग पर उसे वेदना होती है। वन से मनुष्य का वियोग इतना मरमान्तक और करुण हो सकता है, यह चीज संसार के समस्त साहित्य में केवल 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक में दिखाई पड़ती है। इस काव्य में जिस प्रकार स्वभाव और धर्म- नियम का मिलन होता है, उसी प्रकार मनुष्य और प्रकृति का मिलन होता है। मैं सोचता हूँ कि वि-सदृशों में ऐसा एकान्त मिलन का भाव भारतवर्ष को छोड़कर और किसी देश में सम्भव नहीं हो सकता।<sup>23</sup>

अस्तु, शाकुन्तल की उक्त रससिक्त भावभूमि में रमकर अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं होती। नाटक आगे बढ़ता है किन्तु विस्तार भय से यहाँ केवल कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर के मार्मिक शब्दों से इतिश्री करनी होगी।

शाकुन्तला को हम काव्य के आरम्भ में एक निष्कलुष सौन्दर्य लोक के बीच देखते हैं, वहाँ सरल आनन्द में वह अपनी सखियों और तरु-लता-मृग के साथ मिलाई हुई है। उसी स्वर्ग में अपराध ने अनजाने ही प्रवेश किया और कीड़े के कुतारे हुए फूल की तरह सौन्दर्य बिखर गया। और फिर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद, अनुताप। और सबके अन्त में विशुद्धतर, उन्नतर, स्वर्ग लोक में क्षमा, प्रीति और शान्ति। ... बाकी रह गया साधना का स्वर्ग। अनुताप के द्वारा तपस्या के द्वारा जब उस स्वर्ग को जीता गया, तब और कोई शंका न रही। यह स्वर्ग

शाश्वत है।... शाकुन्तला काव्य में कवि ने इसी स्वर्गच्युति से लेकर स्वर्ग प्राप्ति तक सब कुछ दिखाया है।<sup>24</sup>

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास की प्रकृति तपस्या द्वारा संस्कृत चित्त की अनुवर्तिनी है। कालिदास ने अनेकशः प्रकृति के रूप को चित्रित किया है। उनके सम्पूर्ण काव्य संसार में प्रकृति का यह संयत-मोहन रूप प्राप्त होता है। अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि कालिदास का काव्य 'प्रकृतिरसवर्षक' काव्य है।

'प्रकृति रस' के उपकरण क्या है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। यह रस जिन्हें मान्य न हो वे भारतेन्दु जी के वे शब्द सुनें-

वाह! वाह! रसों का मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है।... अनुभव में आवे मानिये, न आवे न मानिए।<sup>25</sup> और फिर जब निन्दारस, चूतरस, कार्पण्य रस आदि रस व्याख्यात हो सकते हैं तो 'प्रकृति रस' की स्थापना में विप्रतिपत्ति को अवकाश कहाँ?<sup>26</sup>

रस के उपकरण- प्रेमी लोग शुक्लजी का यह पाठ पढ़ें- विभाव अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे, तब से यह बात कुछ भूल सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषय को सामने रखना है, जो श्रोता के विविध भावों के आलम्बन हो सकें। सच पूछिये तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के विभिन्न भावों के आलम्बन स्वरूप होते हैं।<sup>27</sup> तथापि 'प्रकृति रस' का स्थायी भाव अनुसंधात्री 'सौन्दर्य बोध' मानता है और भगवान् भुवनभास्कर सहस्ररश्मि सूर्यदेव इस रस के देवता हैं। विद्वज्जनों से प्रणतिपूर्वक निवेदन है कि वे इस विचार की मीमांसा करें। क्योंकि- 'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्'। अन्त में कविवर कालिदास की यह पुनीत वाणी ही आश्रय रूप में ग्राह्य है-

आपरितोषाद् विदुषां, न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः इत्यलम् ॥

संदर्भग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (आ. आनन्दवर्द्धन) : पृ. 1.11
2. संस्कृत पोएटिक्स : डॉ. सुशील कुमार डे : पृ. 651
3. साहित्य दर्पण : आ. विश्वनाथ : पृ. 6.3221
4. ऋग्वेद : 1.90.61
5. वही : 1.90.71
6. वही : 1.90.81
7. मधुमती भूमिका : आ. केशव प्रसाद मिश्र (वि.सं.) : पृ. 1051
8. अर्थववेद : 10.8.321
9. रस मीमांसा : आ. रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 1431

10. चिन्तामणि (भाग-1) : आ. रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 4-40।
11. कुमार सम्भवम् : 1.15।
12. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (जीवन स्मृति) : अनु. अमृतराय : पृ. 93-94।
13. चिन्तामणि (भाग-2) : आ. रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 14-15।
14. रघुवंशम् : 16.18।
15. चिन्तामणि (भाग-2) : आ. रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 42।
16. विक्रमोर्वशीयम् : 5.25।
17. मेघदूतम् (पूर्व मेघ) : 3।
18. कालिदास की लालित्य योजना : आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ. 53-54।
19. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : 1.20।
20. रघुवंशम् : 6.50।
21. भक्तिरसामृतसिन्धु : पृ. 21।
22. वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना : डॉ. प्रेमस्वरूप : पृ. 220।
23. मेघदूतम् (पूर्वमेघ) : 16।
24. वही : 9।
25. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : 1.1।
26. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग-2) : अनु. अमृतराय : पृ. 400।
27. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : 4.5।
28. वही : 4.9।
29. वही : 4.2।
30. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग-2) : अनु. अमृतराय : पृ. 396-97।
31. वही : पृ. 406।
32. कविवचन सुधा : पृ. 178-79।
33. रस सिद्धान्त : डॉ. नगेन्द्र : पृ. 254।
34. रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष : डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी : पृ. 73।
35. रस मौमांसा : आ. रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 124-125।

## अद्यतन चुनौतियाँ और साहित्य का प्रयोजन

डॉ. इला शुक्ला

प्राध्यापक, शा.के.आर.जी. कॉलेज, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

**इ**क्कीसवीं सदी का समूचा परिदृश्य मानव के संदर्भ प्रसंगों की उसकी इयन्ता और चरम सीमाओं को पुनर्व्याख्यायित एवं पुनर्विश्लेषित करने की मांग करता है। इसी संदर्भ में साहित्य को पारिभाषित करें तो वैयक्तिक को निर्वैयक्तिक बनाना, विशिष्ट अनुभूतियों को सामान्यीकरण के सांचे में उतार देना स्वान्त सुखाय के सर्वान्तः सुखाय बनाना ही साहित्य है। कागज के रेगिस्तान को हाँफ हाँफ कर पार करता हुआ सर्जक मानो अथाह सागर को दोनों हाथों से ढेलता हुआ इस पार से उस पार जाता है, और जाते समय जो वक्त लगता है, जिस वक्त यात्रा शुरू करता है, उसका पूरा पूरा ज्ञान उस सर्जक के चेतना रंघों में उभ चूभ रहता है। मनुष्य होने के नाते ही हमें समय का गहरा और सजग बोध रहता है तो सर्जक या साहित्यकार होने के नाते तो यह बोध और भी गहरा जाता है। समय वस्तुगत आयाम नहीं विचारगत आयाम है और साहित्य अपने समय से संग्राम है। साहित्य की अनूठी विशेषता है कि यह ऐतिहासिक, सामाजिक समय के बरक्स अपना समय रचता है, इस दूसरे समय को समझ कर ही साहित्य के प्रयोजन को समझा जा सकता है। मूलतः देखा जाए तो साहित्य की अथ से इति तक के छोरों में प्रयोजनमूलकता ही छापी रहती है। छोटी से छोटी कहानी से लेकर महाकाव्यात्मक उपन्यास और हाइकू से लेकर महाप्रबंध काव्य तक भनिति को सुरसरि के रूप में अवतरित होना ही पड़ता है। शब्दों को सत्य का कलेवर धारण कर ऋत प्रज्ञा का पर्याय बनना और सृष्टि के समानांतर एक शाश्वत सृष्टि करते चले जाना पड़ता है। यही साहित्य के प्रयोजन को अंतःसलिला है। साहित्य हमारे अंतर्जगत के अधिक स्वाधीन बनाते हुये बहिर्जगत को सुखी, स्पष्ट और व्यापक बनाने की ईमानदारी का ही सत्यसंधान है। हमारे समाज में जहां शाश्वत की आराधना की एक लंबी परंपरा रही है। एक ऐसी धारा होनी चाहिये जो अपने समय और समाज की शर्तों और दबावों से उपर शाश्वत को ही प्रगट करें। इस परिप्रक्ष्य में साहित्य के प्रयोजन का यथार्थ बेहतर समझा जा सकता है।

प्रयोजनसिद्ध साहित्य ही शाश्वत की पहचान कराता है और मनुष्य को एक साथ भूत, भविष्य और वर्तमान में रहना सिखाता है। इसलिये साहित्य के प्रयोजन की चिंता हमारी मुख्य चिंता सारणियों में से एक है। आज जब हम उत्तर औपनिवेशिकता और उत्तर आधुनिकता की सीमा से भी दूर निकल आए हैं और ग्लोबलाइजेशन या वैश्वीकरण और ग्लोबल विलेज या विश्वग्राम की परिसीमा में प्रविष्ट हो चुके हैं तो हमारे 'प्रयोजन' ही हमारी चुनौती बन गये हैं। मेरे विचार से 'प्रयोजन' और 'चुनौती' में अर्थगत भेद नहीं है। रूपतामक भेद है। अस्तु, अद्यतन संदर्भों में साहित्य के सत्य और सुन्दर को हृदय की अंतःसलिला में सुरक्षित रख केवल 'शिवेतरक्षतये' का दायित्व निर्वाह करना होगा।

**अब प्रश्न उठता है -** अद्यतन संदर्भों में 'शिवेतर' अर्थात् कल्याणोत्तर क्या है? जिसका नाश शब्द बाण से करना अपरिहार्य है? उत्तर है कि जनवादी संस्कृति का अपार विस्तार ही वह 'शिवेतर' तत्व है जो मानव की वैयक्तिकता, विशिष्टता और अनूठेपन के सौंदर्य को एक साथ निगल जाने को आतु है।

आज हमारा समाज तेजी से जनसमाज का रूप ले रहा है। जनसमाज (मास) के रुपान्तरण के कारण

प्राचीन आस्थाएँ, मूल्य संस्कार और आदतों के तेजी से झटके लगे हैं। जनता जनसमूह बन गयी है। जिससे स्टीरियोटाइप यथार्थ दृष्टि एवं हाव भाव हावी हो गये ... खंडित अनुभव यथार्थ बन गया और प्रामाणिकता का स्रोत जनमाध्यम हो गए व्यक्ति चेतना सामान्य बोध से भी निचले धरातल पर चली जाती है क्योंकि नए संचार माध्यम केवल सूचनाएँ नहीं देते हमारे अनुभवों को निर्देशित भी करते हैं।

हम और हमारा समाज साहित्य और साहित्य प्रदत्त 'संदेश - वैभव' से दूर कृत्रिम उन्मादों में रहा है। स्वतंत्रता का अर्थ अब वस्तुओं की प्राप्ति की स्वतंत्रता हो गया है। ऐसे में उदात्त तत्व सूक्ष्म अनूनाव और विवेक जन्य कर्म अस्तप्राय पड़े हैं। साहित्य को प्रमेय ही नहीं प्रमाता भी चाहिए और प्रमेय के आस्वाद को सुपुष्ट, सरस और जागृत बनाये रखने के लिए अद्यतन 'साहित्य नाट्य' को प्रेक्षागृह की ईंट दर ईंट से यात्रा प्रारंभ करनी होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हम साहित्य के संस्कारों से इक्कीसवीं सदी को अभिमंत्रित करना चाहते हैं तो पहले हमें साहित्य के संदेशों के माध्यम से ही जन जन की 'वैयक्तिक अस्मिता' के बचाना होगा। रस आस्वाद की बूंद के जनसमुद्र में मिलकर जनरव या जनसमूह बनने और मूर्च्छित प्राय जीवन जीने से रोकना होगा अर्थात् एक ऐसे व्यक्तित्व या 'प्रमाता' और 'आस्वादक' का पुनर्सूजन करना होगा जो 'अपनी वैयक्तिकता में विशिष्ट एवं सामाजिकता में सामान्य हो। व्यक्तिवादी न होते हुए भी विशिष्ट व्यक्ति हो। अपने समाज से लड़ते हुए भी सामाजिक हो।

जो मात्र जनसमूह न बने मात्र उपभोक्ता न रह जाये; तकनीक के हाथ का खिलाना न बने। क्योंकि आज जिस लोकवादी संस्कृति (मास कल्चर) में हम जी रहे हैं व भद्रता और संस्कार को, मूल्य को और शील को सामाजिक हैसियत से जोड़ती है। वह प्रभेदीकरण करती है। तकनीक और साहित्य नदी के दो पाट हैं। साहित्य मात्र वाइजम है: वाणी ही वाणी किन्तु तकनीकी में वाणी नहीं होती... उसके पास हृदय की पुकार का उत्तर नहीं है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने लिखा 'मानव जीवन में जहां अभाव है वहीं उपकरण जमा होते हैं, जहां पूर्णता है वहां मनुष्य का अमृत रूप व्यक्त होता है। कहना न होगा साहित्य यदि इसी 'शिवेत्तर' की क्षति को अपन प्रयोजन बना सके तो हमारा खोया अमरत्व प्राप्त हो सकता है। हम 'गाड़र की ठाठ' होने से खुद को और अपनी जाति अपने राष्ट्र को प्रबोध दे सकते हैं, बचा सकते हैं। साहित्य की मनुष्य को उसके मूल से जोड़ने को प्रेरित कर सकता है। मनुष्य की मौलिकता को उकसा कर उसे भीड़ बनने से रोक सकता है। उसमें चिरंतन मूल्यों की ललक जगा सकता है। अध्ययन और अध्यासाय से जोड़ कर मनुष्य की चेतना को विशिष्ट बनी रहने के लिए विभिन्न आयाम देना भी साहित्य का ही काम है। अद्यतन संदर्भों में जब रांगोली व अल्पनायें बारूद की सुरंगों में बदल गई हों साहित्य को अपने प्रयोजनों पर पुनर्विचार करना होगा। साहित्य की मूल धरोहर है - संवेदना, संवेद्य, आस्वाद्य और आस्वादक ये सब नहीं बचेंगे जब हम भीड़ बन जायेंगे अतः प्रबोधनपरक आंदोलन परक मुद्दे, दूरगामी मुद्दे तथा व्यापक मूलभूत मुद्दों पर लिखना अपरिहार्य हो गया है। कहीं यहन कहना पड़े -

'लोगों ने इतिहास रच दिए, हमने सब संबोधन खोए।  
सचमुच बड़ी देर तक सोए।

मास कल्चर के इस युग में हम सब मानो खो गए हैं एक जैसे हो गए हैं पशुवत आचरण के कारण आज का प्रयोजनहीन और सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न साहित्यिक दृष्टि से परमुखापेक्षी भारत, रोम्या रोलों के ज्यां क्रिस्तोद' उपन्यास में वर्णित फ्रांस जैसा होता जा रहा है।

'व्यक्ति हो या समाज हो जीवन में कोई तालमेल नहीं है, कोई सामंजस्य नहीं है, कोई अन्विति नहीं है, किसी अभिप्राय की तलाश नहीं है न चेतना की कमी है, न कौशल की पर जिंदगी केवल सुलग रही है, हम जान रहे हैं कि एक सडांध बाहर और भीतर फैल रही है, हम यह भी जानते हैं कि ये उपाय किए जाएं तो ये सडांध दूर हो सकती है, पर हम लाचार हैं। उन उपायों का जोखिम उठाने में असमर्थ हैं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि साहित्य ने निविड अंधकारों में प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया है उसे आज हैलोजन और भरकरी बनकर नव्यतम परिस्थितियों में उजास फैला पर भटकते मानव के मस्तक पर संवेदना का मौर बांधना होगा। उसे मर्मभरी दृष्टि और संवेदनशील मन की संजीवनी प्रदान करनी होगी तभी साहित्य का प्रयोजन पुनर्वाख्यायित होकर सार्थक हो सकेगा। 'शिवेतरक्षतये' के साथ 'अर्थकृते' भी हमारी परम्परा में साहित्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन है। इसी 'अर्थकृते' को यदि अद्यतन संदर्भों में देखें तो जनमाध्यमों की भीड़ में होरी और धनियां खिली खाते, पान चबाते, भारतीय की जिंदगी का दृश्य अंश बन चुके हैं अर्थात् साहित्यिक कृतियों का 'रूपांतरण' आज की अपरिहार्य आवश्यकता है। प्रयोजन यह है कि यह रूपांतरण हमारे उद्देश्यों के अनुरूप हो जिस प्रकार अन्यान्य प्रचारणीय मुद्दे 'व्यावसायिकता' को अस्त्र बना कर प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे में नितान्त प्रयोजनमूलक प्रयोजन यह होना चाहिए कि युगसत्य 'दूरदर्शन' के माध्यम से ही हम अपनी साहित्यिक कृतियों का आस्वाद उस जनता के करावे जो पुस्तक खरीद कर नहीं पढ़ती या पढ़ नहीं सकती और यदि संभ्रांत वर्ग खरीद कर पढ़ना भी चाहे तो बांछित कृति उसे समय पर उपलब्ध नहीं होती है। साहित्य के शुभचिंतक अपनी नयी कर्मभूमि को पहचान का उन्नत पटकथायें लिखें, लिखवायें जिसके मूल में न तो कृति अपेक्षित हो न कृतिकार और न ही कृति में वर्णित भाषिक सौंदर्य। साहित्यिक कृतियों के व्यवसायीकरण के तहत नीति निर्देशन करना और उनका फलीभूत हो जाना भी एक प्रकार की सात्विक आलोचना सिद्ध होगी। दृश्य-श्रव्य विद्या का आश्रय लेकर साहित्य को फलक के संप्रेष्य; संवेद्य एवं संसूचित करने के द्वारा यथार्थ के रूपायन को चुनौती देनी चाहिए। यहां कथ्य के साथ साहित्य के शिल्प के भी बड़ी बारीकी से देखना होगा... दूरदर्शन के माध्यम से दो विरोधी डिस्कॉर्स एक साथ समाहित किए जाते हैं साहित्यिक डिस्कॉर्स, जो लोकप्रिय बनाकर प्रस्तुत करना एवं उसके मूल रूप को संरक्षित रखना आज के समय की बड़ी चुनौती है। कहना न होगा कि यह युग सत्य का व्यवहारिक पक्ष है और अद्यतन संदर्भों में साहित्य का चुनौतीपरक प्रयोजन भी है। टेलीविजन की वैचारिक वचस्व (हेजेमनी) को साहित्य के सकारात्मक पक्ष के रूप में प्रयुक्त करना ही हमारी दूरदाजी होगी। टेलीविजन के यथार्थ से साहित्य को पुष्ट करना प्रसारित प्रचारित करना घर घर में रूपांतरित करके पहुंचाना आज के समय को साहित्यिक चुनौती है। दायित्व के साहित्यकार की सजगता की कसौटी भी है।

तीसरीं चुनीती, अद्यतन संदर्भों में साहित्य के आधार अर्थात् 'भाषा की है। ब्राक ने कहा है 'विज्ञान राहत देता है: कला विचलित करती है।' लेकिन कला तभी विचलित कर सकती है जब शब्द का संधान शब्दबाण की तरह किया जाये।

एक ऐसे समय में जब शब्द पर हर और से हमला है, शब्द की रक्षा और उसकी पवित्रता और गरिमा की रक्षा करना कविता का, साहित्य का बुनियादी धर्म है। हमारे चारों ओर शब्द का अपव्यय और शोषण हो रहा है... शब्द आज लगभग अनैतिक इकाइयां बन गए हैं। कर्म के पाखंड पर उनसे आवरण डालने का काम लिया जा सकता है। शब्द का समुच्चय अर्थात् 'भाषा' जितनी लापरवाही से आज प्रयुक्त हो रही है उस संदर्भ में बशीरबद्र की दो पंक्तियां उल्लेखनीय है-

'अब तरसते रहे गजल के लिए तुमने लफ्जों से बेवफाई की।'

आज सबसे अनादृत और अपेक्षित तत्व शब्द है भाषा साहित्य के प्रयोजन के आधार की बातें हम करते हैं परन्तु जिस आधार पर साहित्य खड़ा है उस भाषा के भूल जाते हैं। भाषा के रुढ़ असंयत असावधान प्रयोग ने पत्र पत्रिकाओं को साहित्यिक कृतियों को अल्पसंख्यक बना दिया। 'आज एक ऐसी संख्याभाषा की आवश्यकता है जो पीढ़ियों को होश में ला दे।' अनुभव की आंच में तप कर निकले शब्द धन की तरह मस्तक पर पड़ते हैं। भाषा को बचाने का प्रयोजन ही साहित्य की जड़ों को सींचना है।

'आज भाषा हमसे एक नये ढंग के सम्बन्ध स्थापन की मांग कर रही है। अब पहले की तरह हर भाषा के प्रदत्त मानकर अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करना कठिन हो चला है क्योंकि वह संप्रेषण से पहले संवेदन का भी नियमन करती है।

शब्द के बचाना उसे कल्पना और सच के बीच अपनी जीवनगाथा से घोटित रखना मनुष्य के कालजयी आविष्कार को बचाना है, उसकी जिजीविषा और मौलिकता के बचाना है।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य की चिरंतनधर्मिता को अद्यतन संदर्भों में बचाके रखने के लिए तीन

बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। साहित्य मनुष्य को 'मास' होने से बचाये, रूपांतरण में सजगता लाये, भाषा को बचाये और 'प्रयोजन' साहित्य के संदर्भ में नितान्त पारंपरिक शब्द हैं किन्तु आत इसे अपुनातन और अर्वाचीन अर्थ देने होंगे। प्रयोजन को चुनीती के रूप में स्वीकार करके साहित्य को जन जन की शक्ति बनाने का सोलहवीं शती वाला स्वर्णयुगीन लक्ष्य प्राप्त करना होगा तभी अद्यतन संदर्भों में साहित्य प्रयोजनसिद्ध होकर कालातीत, शाश्वत, चिरंतन होकर 'विश्वमानव' का प्रिय पाथेय बन पायेगा।

#### संदर्भग्रंथ सूची

1. समय के बाहर - अशोक वाजपेयी पृ. 11
2. जनमाध्यम और भासकल्चर जगदीश्वर चतुर्वेदी पृ. 16-17
3. जनमाध्यम और भासकल्चर जगदीश्वर चतुर्वेदी पृ. 16-17
4. बाद विवाद संवाद - डॉ. नामवर सिंह पृ. 35
5. रवीन्द्रनाथ के निबंधा भाग-1 पृ. 383
6. मुकुट बिहारी सरोज
7. परम्परा बंधन नहीं - डॉ. विद्यानिवास मिश्र पृ. 75
8. समय के बाहर अशोक वाजपेयी पृ. 65
9. डॉ. बशीर बद्र - उजाले अपनी यादों वे
10. ज्ञानरंजन - साहित्य वार्षिक की 200
11. बाद विवाद संवाद डॉ. नामवर सिंह पृ. 145
12. समय से बाहर - अशोक वाजपेयी

## प्रकृति से प्रगति तक का काव्य पथिक : पंत

डॉ. अलका मौर्य

सहायक प्राध्यापक, शा. कमलाराजा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

# नि

सर्ग की निशब्द निनादित अन्तश्चेतना के क्रोड में पले बड़े शिशु ने मन ही मन संकल्प लिया अनुभूतियों को शब्द-उतारने का... अनकही कहने का, आत्मा के क्षितिज की लालमा को व्यापक अनुभव के आकाश में फैलाने का ... द्रुमों की मृदु छाया को छायावाद के अध्यायों तक ले जाने का ... सितारों की भाषा को हिन्दी की स्वर सुधा बनाने का ... बाल विहंगिनी को कौतूहल से देखने का। यही कवितपक् तड़ित् के मौन निमंत्रण सुनते सुनते प्रकृति की सुरभ्य वीथिका में विहरते अचानक गांव की गलियों में निकल आया और वहां उसे मिली ग्रामवासिनी भारत मां के अन्तस् की चित्रावलियां रोक नहीं पाया कवि स्वयं को ... खो गया ... चिंतन में डूब गया और उबरा तो पाया कि लेखनी 'ग्राम्या' को पहचान रही है " युगवाणी" को जान रही हैं और "युगान्त" के सत्य को मान रही है।

जिस तरह प्रकृति में सुबह, दोपहर, शाम सहज है उसी तरह मनुज जीवन में तीन अवस्थायें प्राकृतिक हैं उसी प्रकार चिंतन के विविध आयामों में सृजन वैविध्य नितान्त नैसर्गिक है, निश्छल है, अनायास है और अप्रतिबद्ध है। हठात् प्रतिबद्धता हमारे विचारों को संकीर्ण बनाते-बनाते उन्हें "मृत" स्तर तक ले जाती है इसीलिए कहा जाता है "मूर्ख और शव दो ही अपनी विचारधारा नहीं बदल सकते। वस्तुतः विचार के साथ जुड़ा शब्द "धारा" इसी बात को रेखांकित करता है कि विचार एक सतत् प्रवाह है और प्रवाह थिर नहीं रहता, घाट-बाट आते ही रहते हैं। इतनी भूमिका बांधने का खरा सा मंतव्य यह है कि सुमित्रानंदन पंत ने प्रकृति से लेकर "प्रगति" तक की काव्य - यात्रा की, वह वस्तुतः शाधापेक्षी है। इसके दो मुख्य कारण हैं

**भावनात्मक कारण** - प्रकृति के मनचीन्हें अनजाने स्वरों को सुनने की, सितारों के अक्षर और किरणों की भाषा पढ़ने की, लालसा अन्तस् के उन उर्दीद स्वोतों की रहती है, जिनके तार हमें परमात्मा से जोड़ते हैं। हम परमपुरुष की कृति हैं और प्रकृति भी परमपुरुष की प्रकृति है वह परासत्ता से जुड़ी है। अतः दोनों में अनिर्वचनीय सम्बंध है, सम्बन्ध में खिचवा है, अदम्य आकर्षण है। शब्द-शब्द बहती अनुभूतियाँ हैं, जिनसे हमें प्रभूत राशि में निसर्ग काव्य मिला है। प्रकृति चित्रण इतना सहज है कि हमारे पारंपरिक महाकाव्यों में यह एक आवश्यक शर्त मानी गई है, सूर्योदय, "सूर्यास्त" का चित्रण करना। प्रकृति मनुष्य की सहचरी है। यह सहस्त प्रतिशत सत्य है इसलिए न तो वह मनुष्य की लेखनी से दूर हो सकती है न जीवनी से। प्रकृति और छायावाद का रिश्ता भी इसी सत्य की सुपरिणिति है। छायावाद की उदात्ताप्रेमी सूक्ष्म चेतना प्रक्रिया का सुअवसान या पर्यवसान मानवताप्रेम, मानव चिंतन और मानव कल्याण में होता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। दृष्टि का विस्तार है, चिंतन का अधिक प्रामाणिक हो जाना है। इसीलिए कहा गया है कि प्रगतिवाद-सामाजिक यथार्थवाद का विकसित रूप है।

मनुष्य रागात्मक हृदय का स्वामी ही नहीं उसकी अनुभूतियों के अनन्त विस्तार को इतस्ततः विकीर्ण करने को विवश है। यही रागात्मकता उसे कविकर्म की कष्टप्रद प्रक्रिया से गुजरने को बाध्य करती है। मर्म की दुखती रोगे जब अपने चरम पीड़ा के क्षणों में होती है तो अचानक उनमें रक्त की जगह शब्द बहने लगता है, सांसे संवेदना की आंच से तप्त होकर उस रक्त को छंदों में समेट लेती है। एक बार रागात्मक हृदय के बोलों

को सुनकर ही जो व्यक्ति सितारों के "मीन निमंत्रण" सुन सकता है। उसे मनुजपुत्रों की मूक ध्वनियों सुनने में कहा समय लग सकता है। यह समय था जब कविवर पंत के दृष्टि जगत में आमूलचूल परिवर्तन हुआ, उन्होंने रिचर्ड्स के इस सत्य से प्रेरणा पाई कि "यदि कला मानव सुख की अभिवृद्धि में संलग्न हो, पीड़ितों की मुक्ति अथवा हमारी पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में रत हो या हमारे विषय में और वस्तु जगत के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऐसे नवीन व प्राचीन सत्य का आख्यान करे जिससे उसमें मानवात्मा का स्पन्दन हो सके हमारे भावोद्भिक का लक्ष्य निर्व्यक्तिक एवं सार्वजनीन होना चाहिए।" इस प्रकार कविवर पंत को सुकुमारता ने मानवता का वरण करते हुए लता वितान की छांह छोड़कर विस्तार के राजमार्ग पर चलना सुनिश्चित किया। अतः "वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान" के आत्म स्वीकार के साथ-साथ एकोरस करुण एव की शंखध्वनि फूटते हुए पंत रागात्मकता से भी समोहित हुए यही रागात्मकता उन्हें "परदुःखकारता" की ओर ले गई क्योंकि रागात्मकता के कारण व्यक्ति सहज झोता चला जाता है, सहजता से "सामान्यीकरण" "साधारणीकरण" की ओर बढ़ते हुए अन्ततः कवि "सर्वभूतहितैरताः के "काव्य सत्य" की ओर अनायास ही बढ़ जाता है। जैसे महाकवि तुलसी स्वान्तः सुखाय से स्वान्तः तमशान्तये तक की यात्रा करते हैं। ठीक उसी प्रकार ऐसी ही पंत की काव्य यात्रा है "प्रकृति" से "प्रगति" तक अनायास, सहज, निव्यजि और खरी ...।

**परिथितिजन्य या बाह्यकारण-** सुमित्रानंदन पंत को प्रगतिशील चेतना के कवि कहना प्रगतिशीलता के उद्भव की ओर जाने को प्रेरित करता है। जहां "प्रगतिवाद" मानव को उसकी वास्तविक स्थिति में परिचित करा उत्थान की ओर अग्रसर होने का संदेश देता है। "यह विचारधारा 1917 में रूसी क्रांति के बाद यूरोप में जन्मी किन्तु भारत में 1936 में प्रेमचंद के सभापतित्व में होने वाले "भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ" के प्रथम अधिवेशन से जन्मी इसकी पृष्ठभूमि में "मानवतावाद" और "यथार्थवाद" की चिंतन सारणियां रही। अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षता करते हुए डॉ. राहूल सांकृत्यायन ने कहा "प्रगतिवाद कोई कल्ट या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रास्ते को खोलना ... प्रगतिवाद कलाकार की परतंत्रता का शत्रु है... प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गई है वह स्वयं सीमाओं का निर्धारण कर सकता है प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं करता यह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में बाधक रुढ़ियों को हटा कर सुविधा प्रदान करता है। यह रुढ़िवाद एवं कूपमण्डूकता का विरोधी है। इस संबंध में सुमित्रानंदन पंत ने "रूपाभ" के प्रथम अंक के सम्पादकीय में लिखा "इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा विश्वास में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है। काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नम्र रूप से सहम गयी है। अतः इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती।" डॉ. रामविलास शर्मा ने भी प्रगतिशील साहित्य की भूमिका में लिखा "

प्रगतिशील लेखक संघ की नींव डालना इसलिए जरूरी था कि हम अपने साहित्य को ऐसी विचार धाराओं के असर से बचायें, जो साम्राज्यवाद और सामंतवाद से समझौता करना सिखाती हैं।

पंत जी की प्रगतिशील चिन्तन शैली का काव्य रूपांतरण हमें "परिवर्तन" कविता से मिलने लगता है जहां कवि कल्पना और यथार्थ का संघर्ष व्यक्त करता है जो आगे चलकर "गुंजन" और "युगान्त" में अधिक स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि "युगवाणी" एवं "ग्राम्या" उनकी प्रमुख प्रगतिवादी काव्यकृतियां कही जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मन में "परिवर्तन" के साथ कल्पना व यथार्थ का जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ उसी ने विकसित होकर "युगान्त" के साथ छायावादी युग की सामासि की घोषणा करने को विवश किया और "युगवाणी" तक आते-आते वे पूर्णतया कल्पना के पार से स्वयं को मुक्त करने में सक्षम हो सके।

"प्रवेश काल की दृष्टि से पंत जी को प्रगतिवादी काव्य- धारा का प्रथम कवि अवश्य कहा जा सकता है किन्तु सन् 1940 के बाद से ही पंत जी का प्रगतिवादी स्व रमंद होता दिखाई देता है।"

प्रगतिवादी साहित्य का जन्म और अवसान आकस्मिक घटनाएँ नहीं थीं बल्कि 19 वीं एवं 20 वीं शती के सांस्कृतिक एव राष्ट्रीय आंदोलन की सहजात थी। "युगवाणी" का यह संदेश पंत ने तो सन् 40 तक सुनाया किन्तु सन् 1950 में ही प्रगतिवादी काव्यधारा का आरम्भ माना जाता है। डॉ. नामवरसिंह के अनुसार "प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है। बाबू गुलाबराय ने कहा - "प्रगतिवाद हमें स्वार्थपरायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। जो केवल राजनैतिक जागरण से आरम्भ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि अपनी रचना यात्रा में प्रातः का कलरव भी सुनता है और मध्यदिवस का उत्तम आतप भी झेलता है। सहज गतिमान शब्द निर्द्वारिणी से स्नातक कति तूलिका विविध चित्र उकेर कर साहित्य क्षितिज को अपने अनुभूति लोक से चित्रित करती रहती है। इसे चाहे हम प्रगतिवाद कहें प्रयोगवाद कहें या कुछ अन्य नाम दें सत्य यह है कि स्वयं प्रेमचंद को रचनाकर्म का नामकरण पसंद न था प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने 'प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी' शब्द को साहित्य के साथ जोड़ना निरर्थक बताया। 'मेरे विचार में 'प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम ही गलत है, साहित्यकार या कलाकार स्वतः प्रगतिशील होता है।' डॉ. शिवदानसिंह चौहान के अनुसार 'प्रगतिवाद' वास्तव में साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का माक्सवादी दृष्टिकोण है।

निष्कर्ष यह है कि यदि रुढ़ प्रयोग के साथ साथ एक विशुद्ध संदर्भ प्रेरित प्रोक्तिजन्य पारिभाषिक शब्द के रूप में देखें तो 'प्रगतिशीलता' उक्त अर्थ देती है पर प्रश्न उठता है? क्या हर अगला चरण 'गति' नहीं क्या चरैवेति - चरैवेति कहने वाला ऋषि गतिशील न था क्या आदिकवि की 'या निषद' से लेकर 'वियोगी होगा पहला कवि' तक एक अविच्छिन्न गतिशील मानवमूल्यों का सूत्र गतिमान नहीं है? शब्दों ने फरेब दिये हैं ये ठीक है पर हम लोगों के इशारे पर

..... मेरी अपनी दृष्टि में तो जब तुलसी लिख्याते हैं राम सखा रिषि बरखस भेंटा जनुमहिलुठत सनेह समेटा।' तो यह प्रगतिवादी चिंतन हैं जो सहजता और खरेपन से अज्ञात भाव से मानव पर छा गया है। जब सूर की गोपियाँ ब्रज महारानी यशोदा से लड़ती हैं क्या वह प्रगतिशील चिंतन नहीं है? क्या ब्रजराज स्वयं ग्वाले बनते हैं तो वह उनका प्रगतिशील रूप नहीं है। वस्तुतः होता यह है कि अधिक असुरक्षा की भावना ही 'स्वत्व' को और बढ़ाती है। निजता के, संकीर्णता के परकोटे में ले आना चाहती है। फलतः वार्दों, नारों, फतवों और आंदोलनों के पाश में 'कविता' विशुद्ध कविता की आत्मा छटपटाती है। वही सूरज की धूप है सुबह आप उसे रश्मि कहेंगे दोपहर को कड़ी धूप कहेंगे निद्राघ कहेंगे सूरज न आता है न जाता है न हिलता है न डुलता है न उगता है न छिपता है फिर भी 'सूर्योदय', 'सूर्यास्त' जैसे शब्द शाश्वत साहित्य को सहज अभिव्यक्ति में समाए हैं। इसी प्रकार अनुभूति मांजती हैं खंगालती हैं आंदोलित कर डालती है... युगान्तर कर देती है... विशुद्ध अनुभूति ... हम सिर्फ अपनी सुविधा के लिए उसे नाम दे देते हैं प्रगति ... क्योंकि नामकरण हमारी सबसे बड़ी विवशता है और शौक भी... साहित्य को चरैवैति चरैवैति का शंखनाद है।

आदि से अंत तक, ऋषि से संत तक  
प्रसाद के पंत तक, आपसे हम तक ...।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रगतिवाद उद्भव और विकास - श्री कृष्णलाल हंस पृ. 2
2. प्रगतिवाद उद्भव और विकास - श्री कृष्णलाल हंस पृ. 3
3. हंस अक्टूबर 1947
4. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ -- पृ. 137 डॉ. नामवर सिंह
5. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ -- पृ. 182 डॉ. नामवर सिंह
6. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ. 63
7. आलोचना जुलाई - 1942 सम्पादकीय पृ. 3

## प्रशिक्षु-शिक्षकों की समस्याएँ : निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के संदर्भ में

सुधीर कुमार शर्मा

शोधार्थी, केशव बिहार, धनीपुर, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)



shodhshree@gmail.com

# शि

क्षण एक सोद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है। इसमें शिक्षक, शिक्षार्थी एवं पाठ्यवस्तु के मध्य परस्पर अन्तःक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप शिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है। शिक्षण को एक जटिल क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ कि एक अनुभवी मानव (शिक्षक) बिना अनुभव के प्राणी (शिक्षार्थी) को परिपक्वता की ओर अग्रसर करने के लिए सतत प्रयास करता रहता है। शिक्षण के तीन महत्वपूर्ण तत्व शिक्षक, शिक्षार्थी तथा पाठ्यक्रम में से यदि एक को भी विलोपित कर दें तो यह अर्थहीन हो जायेगा। परन्तु शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं है बरन इसका उद्देश्य बालक का सम्पूर्ण विकास करना है। योकम तथा सिम्पसन के अनुसार "अधिक सभ्य समाज में शिक्षण का अर्थ बालक में वर्तमान पर्यावरण में समायोजन करने की क्षमता उत्पन्न करने से ही नहीं है अपितु मानव जीवन की वर्तमान स्थितियों को उन्नत कर उसे अधिक समृद्धिशाली बनाये जाने हेतु बालकों के चिन्तन और कार्य का प्रशिक्षण है।"

प्रजातंत्र में शिक्षण को छात्र एवं अध्यापक के मध्य चलने वाली अन्तःक्रिया के रूप में जाना जाता है, जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों का क्रियाशील होना अनिवार्य माना गया है। शिक्षण अन्तःक्रिया में दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। शिक्षक-विद्यार्थियों को विभिन्न अनुक्रियाएँ उनमें अपेक्षित व्यवहारगत परिवर्तन लाये जाने हेतु करवाता है। एन.एल.गेज ने इन पारस्परिक सम्बन्धों को महत्वपूर्ण मानते हुए कहा- "शिक्षण एक प्रकार से पारस्परिक अन्तःक्रिया है जिसमें एक-दूसरे की व्यावहारिक क्षमताओं के विकास करने का लक्ष्य प्रमुख होता है" इस प्रकार छात्र एवं अध्यापक दोनों ही एक दूसरे की क्षमताओं का विकास शिक्षण के समय करते हैं।

प्राचीन काल में शिक्षक की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए दिनेश चन्द्र जोशी, चतरसिंह मेहता (2007)<sup>1</sup> ने लिखा है "प्राचीन काल में शिक्षण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उच्च व्यवसाय के रूप में मान्यता प्राप्त थी। उस समय शिक्षक का कार्य बालक को विषय ज्ञान और कौशल सिखाना ही नहीं था बल्कि शिक्षण को चरम ज्ञान की ओर अग्रसर करना था। ऋग्वेद में कहा गया है कि वही व्यक्ति शिक्षक बनने के योग्य है जिसने स्वयं ज्ञान के आधार पर आचरण किया हो और ब्रह्ममचारी के समस्त कर्तव्यों का निर्वहन किया हो। शिक्षकों के लिए यद्यपि आज के समान डिग्री और परीक्षा की व्यवस्था नहीं थी तथापि उसके ज्ञान व क्षमता की परीक्षा जीवन पर्यन्त होती रहती थी। प्रायः विद्यार्थी उन्हीं शिक्षकों के पास ज्ञानार्जन के लिये एकत्रित होते थे जिनकी बौद्धिक योग्यता एवं चरित्र उच्च कोटि का होता था। एक प्रकार से यह श्रेष्ठ शिक्षक के चयन का मानदण्ड माना जाता था। जातक काल में शिक्षक नये विद्यार्थियों को शिक्षा देने का कार्य वरिष्ठ विद्यार्थियों की सहायता से करते थे। वो वरिष्ठ विद्यार्थी इस योग्यता के होते, कि शिक्षक उन्हें अपने पास अधिक समय तक रखते ताकि वे अध्यापन का गहरा ज्ञान प्राप्त कर सकें। जब ज्ञान-अधिग्रहण व परिपक्वता से वे अच्छे शिक्षक बन जाते तो फिर वे स्वतंत्र रूप से शिक्षण कार्य प्रारम्भ कर देते। अच्छे शिक्षकों के सम्पर्क में रहकर ही बिना औपचारिक प्रशिक्षण के उस समय शिक्षण व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त किया जाता था।" इस प्रकार शिक्षार्थियों को शिक्षकों का व्यक्तिगत संरक्षण प्राप्त था जो उनकी प्रत्येक समस्याओं का निवारण कर उनके शैक्षिक

विकास, वैयक्तिक विकास और मानवीय व सामाजिक गुणों का संचार करने में सहायक था। संक्षेप में, शिक्षा को इस समय एक पुनीत कार्य के रूप में सामाजिक स्वीकृति सहज रूप में प्राप्त थी।

वर्तमान समय में देश में उदारीकरण की प्रक्रिया और निजीकरण के चरण देश के औद्योगिक जगत में अपनी भव्यता प्रकट करने के साथ-साथ सामाजिक दायित्व के क्षेत्र, विशेषतः शिक्षा में भी चुपके से प्रवेश कर गये और देखते ही देखते कुछ ही वर्षों में सामाजिक समर्पण का यह क्षेत्र, जिसे कभी इस देश में 'पुनीत दायित्व' के रूप में माना जाता था यकायक 'शिक्षा उद्योग' में परिवर्तित हो गया। आधुनिक युग की एक विशेषता यह भी है कि चारों ओर वर्तमान परिदृश्य में ज्ञान का अत्यधिक विस्फोट हो रहा है और नवीन ज्ञान का प्रवाह पाठशालाओं और शिक्षा संस्थानों को प्रभावित कर रहा है। देश को साक्षर और शिक्षित बनाये जाने की प्रक्रिया में बढ़ती हुई विद्यालयों की संख्या ने देश भर में योग्य शिक्षकों की बढ़ती हुई आवश्यकता पर शिक्षाविदों का ध्यान आकर्षित कराया। नई शिक्षा नीति 1986 लागे हो जाने के पश्चात धीमे-धीमे उदारीकरण के दौर ने आम जनमानस के मध्य अपनी उपस्थिति सशक्तता के साथ दर्ज करानी आरम्भ कर दी और देश के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य के साथ ही शैक्षिक परिदृश्य पर भी अपना बर्चस्व स्थापित कर लिया।

शिक्षा में निजीकरण पर अपने विचार व्यक्त करते हुए राजाराम भादू (2008) ने लिखा है 'शिक्षा में निजीकरण का मौजूदा विचार इस क्षेत्र में मुनाफा कमाने की अभी तक रही अवैधानिकता को बंध ठहराने का उपक्रम मात्र है। शिक्षा, स्वास्थ्य और सामुदायिक सशक्तीकरण ऐसे पहलू हैं जो विकास के सन्दर्भ में भी सामाजिक क्षेत्र के दायरे में आते हैं। इस दायरे में सरकार और निजी उद्यम भी भागेदारी निभा सकते हैं। लेकिन वे इसे कारोवारी अन्दाज में नहीं ले सकते। यदि ऐसा होता है तो इसके गम्भीर निहितार्थ हैं। शिक्षा की प्रकृति इतनी भिन्न और विशिष्ट है कि इसे आर्थिक नियमों के दायरे में लाना लगभग विध्वंसकारी कर्म है। इसे मांग और पूर्ति, उपभोक्ता और सेवा की प्रक्रिया से जोड़ना और लाभ-हानि के गणित से आंकना आघातकारी है। इसे प्रमाणित करने के लिये शिक्षा से जुड़े उन सुभाषितों को याद कर लेना ही पर्याप्त है जो इसे व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के ध्येय से जोड़ते हैं'

शिक्षा के निजीकरण का प्रत्यक्ष विकसित देशों में काफी सफल रहा है परन्तु भारतीय सन्दर्भों में यह प्रयोग हमें कहीं ले जा रहा है, यह विरलक्षण व चिन्तन करने का विषय है। शिक्षा में निजीकरण के बढ़ते अधिपत्य की अवस्था में अनेकानेक समस्याओं का सामना इस व्यवसाय-कर्मियों अर्थात् शिक्षकों तथा इसके उत्पादन अर्थात् शिक्षार्थियों एवं उनके मूल अर्थात् उनके अभिभावकों को करना पड़ रहा है। शिक्षा में निजीकरण ने यद्यपि संख्यात्मक दृष्टि से राष्ट्र को शिक्षा सेवा प्रदान करने के अपने उद्देश्यों को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है, जिससे एक आभासी शैक्षिक विकास प्रतीत होता है। तथापि यह तथाकथित विकास अनेकों समस्याओं का जनक एवं जन-भावना के विरुद्ध कार्य करता दिखाई पड़ता है। निजीकरण की व्यवस्था के फलस्वरूप स्व-वित्तपोषित संस्थानों का मायाजाल समाज के सभी वर्गों को प्रभावित कर रहा है क्योंकि इस प्रकार के

संस्थान शिक्षा के तीनों स्तरों अर्थात्-प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च स्तर पर स्थापित किये जा रहे हैं। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर इनके उद्भव से शैक्षिक अवसरों की समानता संवैधानिक प्रावधान की अनदेखी स्वतः ही हो जाती है जबकि उच्च स्तर पर इन संस्थानों में केवल आर्थिक रूप से समृद्ध माता-पिता ही अपने पाल्यों को शिक्षा दिलाने की हिम्मत कर पाते हैं। शिक्षा को उद्योग का अधोषित दर्जा दिये जाने से शिक्षा के तीनों प्रमुख आधार शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। मुख्य रूप से सर्वाधिक क्षति शिक्षक एवं शिक्षार्थी वर्ग की हुई है। उनकी गरिमा, आर्थिक हित, गुणवत्ता और दायित्वों की रुपरेखा बुरी तरह प्रभावित हुई है। शिक्षण-संस्थान ब्रांड के रूप में, शिक्षक एक कुशल कार्मिक के रूप में और शिक्षार्थी ब्रांडेड उत्पाद के रूप में देखा और माना जाने लगा है। शिक्षा की प्रक्रिया के भाव और अपनत्व की भावना विलुप्त होती जा रही है और विशुद्ध लेन-देन या दूसरे शब्दों में बाजारीकरण की नीतियाँ प्रभावी होती जा रही हैं।

शिक्षकों, प्रशिक्षणार्थियों एवं शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों की समस्याओं के अध्ययन की प्रवृत्ति पूर्व में भी अध्ययनकर्ताओं में पाई गयी है। समय के साथ केवल उनके दृष्टिकोण में वांछित परिवर्तन होता रहा है। इसी क्रम में डीली सिमोन (1996) ने इन्दिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय से अध्ययन करने वाले छात्रों की समस्याओं का अध्ययन किया, इस अध्ययन में उन्होंने दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाले 100 छात्रों का चयन किया। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि 65 प्रतिशत छात्रों को प्रवेश सम्बन्धी कोई समस्या नहीं थी। जबकि 35 प्रतिशत को कोर्स के ज्यादा विकल्प न होना, प्रवेश प्रक्रिया, अर्हता की शर्तें, शुल्क भुगतान का तरीका आदि से सम्बन्धित समस्याएँ थीं।

इसी तरह डा. आर.पी. सिंह (2007) ने अनुदानिक संस्थान, गैर अनुदानिक संस्थान एवं अल्पसंख्यक संस्थानों में शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता की स्थिति का अवलोकन किया और निम्न निष्कर्ष प्राप्त किये-

- अनुदानित महाविद्यालय ही अधिकांशतः शिक्षण अभ्यास के प्रति गम्भीर होते हैं।
- गैर अनुदानित महाविद्यालयों में कुछ तो गम्भीर होते हैं परन्तु कुछ शिक्षण अभ्यास कराने के बजाय जल्दी से परीक्षा कराना चाहते हैं।
- अनुदानित महाविद्यालयों के विद्यार्थी प्रशिक्षण को आत्मसात कर लेते हैं।
- अध्यापक शिक्षा की गुणवत्ता अनुदानित महाविद्यालयों के छात्रों में गैर अनुदानित विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक होती है।
- अल्पसंख्यकों में भी अनुदानित तथा गैर अनुदानित का विवरण इसी प्रकार मिलता है।

डा. रामबली यादव (2007) ने स्वतंत्र पोषित शिक्षा संस्थानों में व्यवसायीकरण की स्थिति का अध्ययन किया और निम्न निष्कर्ष प्राप्त किये-

- शिक्षक-शिक्षा की संस्थाएँ लाभार्जन के लिये भारी भरकम शुल्क अर्जन कर रही हैं। इस शुल्क को धनाइय दे सकता है, सामान्य एवं गरीब परिवार नहीं। ये संस्थाएँ अमीरों की शिक्षा के लिए हैं कि गरीबों के लिए।
- इन संस्थाओं में शासन से निर्धारित शुल्क से दो गुने से भी अधिक तक शुल्क लिया जाता है। इसके अनुपात में शिक्षकों को बहुत कम वेतन दिया जाता है, जिससे शिक्षकों में असंतोष रहता है।
- शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं में अनुमोदित शिक्षक तो काम-काज पर होते हैं लेकिन उनके स्थान पर अधिकांशतः एम.एड. अथवा पी.एच.डी. नामांकित शिक्षक अल्प वेतन पर शिक्षण कार्य करते हैं जिसे एन.सी.टी.ई. नजरअंदाज कर रही है जो भविष्य के लिए शिक्षक-शिक्षा के लिए घातक है।
- स्वचित्त पोषित शिक्षक-शिक्षा संस्थाएँ शिक्षक एवं संसाधन के मानकों के अभाव के होते हुए भी अधिक सीटों का आवंटन प्राप्त कर लेते हैं। विगत वर्षों में जिस अनुपात में इन संस्थानों एवं छात्रों की संख्या बढ़ गयी है, यह प्रशिक्षित बेरोजगारी को अतिशय बढ़ावा दे रही है।
- यदि शासन बी.एड. प्रशिक्षित स्नातकों को बिना रोक-टोक बिना विचार किये बढ़ा रही है तो इनके लिए रोजगार की गारंटी भी प्रदान करे अन्यथा स्वचित्त पोषित संस्थाओं में शिक्षक-शिक्षा का पाठ्यक्रम संचालित करना बन्द कर दे, जिससे प्रशिक्षित बेरोजगार उत्पन्न नहीं हो सकें।

प्रो. दाविर आर. कुरैशी (2013)<sup>1</sup> ने अपने अध्ययन में पाया कि शारीरिक शिक्षक-शिक्षा महाविद्यालयों के पुस्तकालय में अनगणित और अप्रासंगिक पुस्तकें होती हैं जो विद्यार्थियों की पहुँच से दूर होती हैं। विद्यार्थियों को बहुत सारा गृहकार्य दिया जाता है और इसके विषय में उन्हें कोई दिशा निर्देश अथवा सहायता भी शिक्षकों द्वारा नहीं दी जाती। छात्रों के लिए पाठ्येतर क्रियाओं की भी कोई सुविधा नहीं होती। इन महाविद्यालय में छात्रों को केवल किताबी और सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान किया जाता है। जबकि उनके कौशल विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता। साथ ही इन विद्यालयों में अप्रशिक्षित शिक्षकों द्वारा शिक्षण कार्य कराया जाता है।

अंसारुल हसन (2013)<sup>2</sup> ने अपने अध्ययन में बी.एड. के सरकारी महाविद्यालयों के छात्रों तथा निजी प्रशिक्षण महाविद्यालय के छात्रों की अभिवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन किया उन्होंने 200 छात्रों को अध्ययन के लिये चुना जिनमें से 100 सरकारी महाविद्यालयों एवं 100 निजी शिक्षण महाविद्यालयों के लिये। निष्कर्ष रूप में उन्होंने पाया कि -

- आन्तरिक मूल्यांकन के सम्बन्ध में सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों के छात्र एवं निजी प्रशिक्षण संस्थान दोनों के छात्र सहमत पाये गये परन्तु सरकारी प्रशिक्षण संस्थान के छात्रों का झुकाव निजी संस्थानों के छात्रों की तुलना में कम पाया गया।

- आन्तरिक मूल्यांकन के सम्बन्ध में निजी प्रशिक्षण संस्थानों तथा सरकारी प्रशिक्षण संस्थान के छात्रों की अभिवृत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया।
- आन्तरिक मूल्यांकन के सन्दर्भ में निजी प्रशिक्षण संस्थानों के छात्रों एवं छात्राओं की अभिवृत्ति में कोई अन्तर नहीं पाया गया।
- आन्तरिक मूल्यांकन के विषय में निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के छात्र तथा सरकारी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के छात्रों के मध्य सोच के स्तर पर सार्थक अन्तर पाया गया।
- आन्तरिक मूल्यांकन के निजी प्रशिक्षण संस्थानों की छात्राओं तथा सरकारी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की छात्राओं की अभिवृत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया।

इस बदलते हुए शैक्षिक परिदृश्य में न सिर्फ शिक्षकों बल्कि शिक्षार्थियों के सम्मुख भी अनेकानेक शैक्षणिक, वैयक्तिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को उपस्थित कर दिया है। अपने अध्ययन के माध्यम से अध्ययनकर्ता ने निजी स्तर पर संचालित बी.एड. संस्थानों के शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम सम्बन्धी समस्याओं को जानने का प्रयास किया है। साथ ही अध्ययनकर्ता का यह प्रयास रहा है कि वह इन प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षणार्थियों की सोच, मनोदशा, परिस्थितियाँ और उनके समक्ष आने वाली विभिन्न कठिनाईयों/समस्याओं को जान सकें। समग्र प्रबन्धन के विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षणार्थियों को किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है? वे कौन सी समस्याएँ हैं जो प्रशिक्षणार्थियों के शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक हितों को प्रभावित कर रही हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास अध्ययनकर्ता ने किया है।

#### अध्ययन के उद्देश्य

- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों (बी.एड. कॉलेज) में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षणार्थियों की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करना।
- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में अध्ययनरत पुरुष एवं महिला प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करना।
- निजी संस्थानों के विज्ञान एवं कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करना।

#### अध्ययन सम्बन्धी अवधारणाएँ

- प्रत्येक कार्य क्षेत्र में कुछ न कुछ कार्य सम्बन्धी समस्याएँ पायी जाती हैं।
- शिक्षा का निजीकरण शिक्षा में उपभोक्तावाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है।
- शिक्षण संस्थानों के निजीकरण से शिक्षार्थियों के हित अवश्य ही प्रभावित होते हैं।

- सहायता प्राप्त संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की तुलना में निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों को अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।
- निजी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में प्रबन्धन का तरीका विभिन्न समस्याओं का आधार है।

#### अध्ययन की परिकल्पनाएँ

- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है।
- अधिकांश समस्याएँ प्रबन्धन जनित होती हैं।
- प्रशिक्षु-शिक्षकों में समस्याओं की कठिनता का स्तर अलग-अलग पाया जाता है।
- पुरुष व महिला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं की तीव्रता में अन्तर होता है।
- विज्ञान एवं कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं की तीव्रता में अन्तर होता है।

#### अध्ययन की परिसीमाएँ

- अध्ययन के लिये केवल बी.एड. कॉलेज के शिक्षक-प्रशिक्षणार्थियों को चुना गया है।
- अध्ययन के लिये केवल डा. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा एवं चौधरी चरनसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के संस्थानों को चुना गया है।
- अध्ययन में उपरोक्त विश्वविद्यालयों के केवल निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षु-शिक्षकों को चुना गया है।
- समस्याओं को स्वनिर्मित प्रश्न अनुसूची के माध्यम से जाना गया है।
- प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं का विश्लेषण केवल प्रतिशतता के आधार पर किया गया है।

- दो पक्षों में अन्तर तब माना गया है जब उनके मत्तों में कम से कम 2 प्रतिशत का अन्तर हो।

#### अध्ययन की विधि

प्रस्तुत अध्ययन में सर्वेक्षणत्मक अध्ययन विधि का उपयोग किया गया है। चयनित न्यादर्श में सम्मिलित प्रशिक्षु-शिक्षकों में से कुछ को सीधे और कुछ को डाक द्वारा प्रश्न अनुसूचियाँ दी गयीं साथ ही, प्रश्न अनुसूची को यथा सम्भव शीघ्र पूरा कर अध्ययनकर्ता को वापस करने का अनुरोध किया गया।

#### अध्ययन की जनसंख्या

प्रस्तुत अध्ययन में डा. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा एवं चौधरी चरनसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ से सम्बद्धित लगभग 350 निजी क्षेत्र के शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों/महाविद्यालयों के विभागों में प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले लगभग 35,000 प्रशिक्षणार्थियों के द्वारा अध्ययन की जनसंख्या को तय किया गया है।

#### न्यादर्श विधि एवं न्यादर्श

प्रस्तुत अध्ययनार्थ अध्ययनकर्ता ने उद्देश्यपरक न्यादर्श विधि का उपयोग किया है। इस विधि का उपयोग इसलिए किया गया है क्योंकि जनसंख्या के सभी सदस्यों की शैक्षिक योग्यता, दायित्व एवं परिस्थितियाँ एक समान ही पायी जाती हैं। अपने अध्ययन में अध्ययनकर्ता ने 225 प्रशिक्षु-शिक्षकों को प्रतिक्रिया के लिए चुना परन्तु उसे कुल 162 प्रशिक्षणार्थियों की प्रतिक्रिया प्राप्त हुई। न्यादर्श चयन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि अध्ययन में सम्मिलित दोनों विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित संस्थानों की संख्या एवं इनमें प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षणार्थियों की संख्या को पुरुष एवं महिला अनुपात तथा विज्ञान एवं कला वर्ग के अनुरूप उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। विवरण अग्रांकित है-

#### अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण

प्रस्तुत शोध अध्ययन में अध्ययनकर्ता के द्वारा स्वयं निर्मित प्रश्न अनुसूची-प्रशिक्षणार्थियों की समस्याएँ का प्रयोग किया गया। इस प्रश्न अनुसूची में प्रशिक्षणार्थियों की प्रमुख समस्याओं को अग्रांकित भागों में विभाजित किया गया -

विश्वविद्यालय प्रशिक्षणार्थी	पुरुष प्रशिक्षणार्थी		महिला प्रशिक्षणार्थी		कुल संख्या
	विज्ञान वर्ग	कला वर्ग	विज्ञान वर्ग	कला वर्ग	
डा. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा	26	34	15	21	96
चौधरी चरनसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ	16	19	14	17	66
कुल योग	42	53	29	38	162

- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की प्रवेश सम्बन्धी समस्याएँ।
- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शुल्क सम्बन्धी समस्याएँ।
- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की

शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याएँ।

- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की सेवा योजन सम्बन्धी समस्याएँ।

उपरोक्त प्रमुख समस्याओं को कई उपभागों में बाँटकर अनुसूची को विस्तार प्रदान किया गया। प्रत्येक समस्या के सामने 'सहमत' एवं

'असहमत' दो प्रतिक्रिया वाक्य रखे गये, जिनमें से किसी एक पर (✓) का निशान लगाकर उत्तर देने का अनुरोध प्रशिक्षणार्थियों से किया गया। अनुसूची की भाषा को सरल रखा गया।

#### अनुसूची अंकीकरण

प्राप्त समस्या अनुसूचियों का अंकीकरण करते समय किसी भी प्रतिक्रिया (सहमत/असहमत) के लिए कोई भी अंक प्रदान नहीं किया गया। चरन् इन प्राप्त प्रतिक्रियाओं को प्रतिशत रूप में निर्गत कर मूल आंकड़े प्राप्त किये गये। प्राप्त मूल आंकड़ों को समस्या अनुसूची में दिए गए प्रमुख क्षेत्रों एवं इन क्षेत्रों की उप-समस्याओं के विश्लेषण के लिये भी अलग-अलग प्रतिशतांक की गणना की गयी।

#### प्रदत्त विश्लेषण

प्रश्न अनुसूची से प्राप्त सूचनाओं (समस्या के प्रति सहमति या असहमति) का विश्लेषण करने के लिए अध्ययनकर्ता ने सरल गणितीय प्रविधियों का चयन किया। प्रश्न-अनुसूची के प्रमुख क्षेत्रों एवं उनकी उप समस्याओं के क्रम में प्रशिक्षणार्थियों की प्रतिक्रियाओं को भी प्रतिशत में व्यक्त कर उनसे निष्कर्ष प्राप्त किये गये।

निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण-

निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षणार्थियों ने प्रवेश प्रक्रिया में आने वाली समस्याओं को बड़े

पैमाने पर स्वीकार कर उनके प्रति अपनी सहमति प्रदान की। चयनित कुल 162 प्रशिक्षणार्थियों की प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं के प्रति प्रतिक्रियायें तालिका-2 में दर्शायी गयी हैं। तालिका-2 के अनुसार 84.42 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं से ग्रसित पाये गए। 84.73 प्रतिशत पुरुष प्रशिक्षणार्थी प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं से परेशान थे जबकि 84.07 प्रतिशत महिला प्रशिक्षणार्थियों ने इन समस्याओं के प्रति अपनी सहमति जतायी। इसी प्रकार विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थी इन समस्याओं के प्रति 84.27 प्रतिशत एवं कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थी 84.61 प्रतिशत ग्रसित पाये गए। विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हुआ कि प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं के प्रति सभी वर्गों ने समान रूप से परेशानी जतायी और इनकी समस्याओं का प्रतिशत 84.42 रहा।

विवेचन- तालिका-2 के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि 87.23 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों को काउंसिलिंग में संस्थान चयन के समय प्रायः उपलब्ध संस्थानों में से अधिकांश संस्थानों की भौगोलिक स्थिति की जानकारी नहीं होती। 96.93 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों के अनुसार एक संस्थान चयन के उपरान्त किसी भी परिस्थिति में किसी अन्य संस्थान के चयन का विकल्प खुला नहीं रहता। 85.10 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी इस बात से सहमत थे कि प्रवेश के समय प्रबन्धन द्वारा संस्थान सम्बन्धी समस्त जानकारी प्रदान नहीं की जाती। जबकि निःशुल्क प्रवेश (Zero Balance) छात्रों के प्रवेश को

तालिका-2 निजी संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की प्रवेश सम्बन्धी समस्याएँ

क्र.सं.	समस्या का स्वरूप	सहमत पुरुष प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत महिला प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	समस्त सहमत प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत
1	काउंसिलिंग में संस्थान चयन के समय संस्थानों की भौगोलिक स्थिति की जानकारी का अभाव	85.26	89.55	87.32	86.81	87.23
2	काउंसिलिंग में एक संस्थान के चयन के उपरान्त दूसरे संस्थान के चयन का विकल्प खुला न रहना	96.84	97.01	97.18	96.70	96.93
3	प्रवेश के समय संस्थान प्रबन्धन द्वारा संस्थान सम्बन्धी समस्त जानकारी प्रदान न करना	86.31	85.91	83.58	84.61	85.10
4	निःशुल्क प्रवेश सम्बन्धी छात्रों के प्रवेश के प्रति संस्थानों का रवैया नकारात्मक होना	90.52	89.55	90.14	90.10	90.07
5	रिक्त सीटों के सापेक्ष प्रबन्धतंत्र द्वारा अधिक धन लेकर प्रवेश दिया जाना	84.21	83.58	81.69	85.71	83.79
6	प्रवेश के समय अत्यधिक एवं अनावश्यक औपचारिक प्रक्रियाओं का पालन कराया जाना	65.26	61.19	63.38	63.73	63.39
	योग	84.73	84.07	84.27	84.61	84.42

लेकर संस्थानों के नकारात्मक रविये के प्रति 90.07 प्रशिक्षणार्थियों ने सहमति जतायी। रिक्त सीटों पर प्रबन्धतंत्र द्वारा अधिक धन लेकर प्रवेश दिए जाने की समस्या से 83.79 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी ग्रसित थे और प्रवेश के समय अत्यधिक औपचारिक प्रक्रियाओं के पालन को लेकर 63.39 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी समस्याग्रस्त पाये गये।

**निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शुल्क सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण-**

निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शुल्क सम्बन्धी समस्याओं के प्रति प्राप्त प्रतिक्रियाओं को तालिका-3 में दर्शाया गया है। शुल्क सम्बन्धी समस्याओं के प्रति पुरुष प्रशिक्षणार्थी 87.99 प्रतिशत एवं महिला प्रशिक्षणार्थी 86.86 प्रतिशत के मत में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। तालिका-3 से यह भी स्पष्ट होता है कि इन समस्याओं के प्रति विज्ञान वर्ग 87.32 प्रतिशत और कला वर्ग 87.68 प्रतिशत ने समस्त बिन्दुओं पर लगभग एक समान

प्रतिक्रिया व्यक्त की। अंततः यह कहा जा सकता है कि शुल्क सम्बन्धी समस्याओं के सन्दर्भ में प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं पर उनके अध्ययन के क्षेत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

विवेचन- तालिका-3 के आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि 91.33 प्रति प्रशिक्षणार्थी प्रबन्धतंत्र द्वारा निर्धारित शुल्क की अपेक्षा अधिक शुल्क मांगे जाने से ग्रसित थे। जबकि 96.20 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने माना कि प्रायोगिक परीक्षा/विश्वविद्यालय परीक्षा आवेदन के समय संस्थान द्वारा अतिरिक्त परीक्षा शुल्क की मांग की जाती है। 70.85 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने माना कि शैक्षिक भ्रमण, स्टेशनरी, ट्रेस कोड एवं स्काउट/गाइड कैम्प इत्यादि के लिये प्रबन्धतंत्र द्वारा अलग से अनावश्यक शुल्क जमा करने के लिए दबाव डाला जाता है। 81.45 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने सहमति जताई कि संस्थानों द्वारा प्रवेश फार्म, टी.सी., सी.सी. एवं स्काउट/गाइड सर्टिफिकेट इत्यादि प्रमाण पत्र देते समय अतिरिक्त शुल्क लिया

**तालिका-3 निजी संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शुल्क सम्बन्धी समस्याएँ**

क्र. सं.	समस्या का स्वरूप	सहमत पुरुष प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत महिला प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	समस्त सहमत प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत
1.	प्रबंधतंत्र द्वारा निर्धारित शुल्क की अपेक्षा अधिक शुल्क मांगा जाना	91.57	91.04	91.54	91.20	91.33
2.	प्रायोगिक परीक्षा/ विश्वविद्यालय परीक्षा आवेदन के समय अतिरिक्त परीक्षा शुल्क की मांग	96.84	95.52	95.77	96.70	96.20
3.	शैक्षिक भ्रमण, स्टेशनरी, ट्रेस कोड एवं स्काउट/ गाइड कैम्प इत्यादि के लिए अनावश्यक शुल्क की मांग	72.63	68.65	71.83	70.32	70.85
4.	छात्रों को प्रवेश सम्बन्धी फॉर्म, टी.सी., सी.सी. एवं स्काउट/गाइड सर्टिफिकेट आदि देने के लिए अनावश्यक शुल्क की मांग	81.05	82.08	80.28	82.41	81.45
5.	प्रबंधतंत्र द्वारा लिए गए अतिरिक्त देय/शुल्क प्राप्ति की रसीद छात्रों को प्रदान न करना	97.89	97.01	97.18	97.80	97.47
	योग	87.99	86.86	87.32	87.68	87.46

जाता है। शुल्क सम्बन्धी समस्याओं में सर्वाधिक घातक प्रवृत्ति अतिरिक्त देय/शुल्क प्राप्ति की रसीदों को लेकर पाई गयी जहाँ 97.47 प्रशिक्षणार्थियों ने माना कि प्रबन्धतंत्र द्वारा लिए गए अतिरिक्त देय/शुल्क प्राप्ति की रसीद प्रशिक्षणार्थियों को प्रदान नहीं की जाती। इस प्रकार निजी संस्थान के प्रशिक्षणार्थियों को शुल्क सम्बन्धी समस्याओं से व्यापक रूप से ग्रसित पाया गया।

**निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण-**

निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों ने शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याओं को भी वृहद् रूप में प्रकट किया। प्रशिक्षणार्थियों में शिक्षण सम्बन्धी समस्याएँ भी 81.40 प्रतिशत पाई गयीं। शिक्षण कार्य सम्बन्धी तालिका-4 के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि

80.87 प्रतिशत पुरुष प्रशिक्षणार्थी शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याओं से ग्रस्त थे। वहीं महिला प्रशिक्षणार्थियों में शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याएँ कहीं अधिक 82.08 प्रतिशत पाई गयी। विज्ञान वर्ग के 80.98 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याओं से ग्रस्त थे जबकि विज्ञान वर्ग की तुलना में कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों में शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याएँ 81.68 प्रतिशत पाई गयीं। इस प्रकार निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थान के प्रशिक्षणार्थी शिक्षण-कार्य सम्बन्धी समस्याओं से भी व्यापक रूप से ग्रस्त पाये गये।

विवेचन-तालिका-4 के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थान में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे प्रशिक्षु शिक्षकों में से 80.35 प्रतिशत प्रशिक्षुओं का यह मानना था कि निजी प्रशिक्षण

संस्थानों में मानकानुसार शिक्षकों का अभाव पाया जाता है। 81.53 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी यह मानते थे कि इन संस्थानों में शिक्षकों के अभाव में एक शिक्षक द्वारा एक से अधिक विषय पढ़ाये जाते हैं। 85.24 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों का मत था कि अधिक शिक्षण भार के कारण शिक्षकों द्वारा शिक्षण के समय शिक्षण अन्तःक्रिया एवं विद्यार्थियों के विभिन्न मानसिक स्तर पर ध्यान नहीं दिया जाता। इन संस्थानों की एक अन्य प्रमुख समस्या लैंग्वेज लैब, कम्प्यूटर लैब, साइंस लैब, ई.टी. लैब इत्यादि के व्यवहारिक प्रयोग को लेकर थी। 87.73 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों की धारणा थी कि इन विभिन्न लैबों का प्रशिक्षणार्थियों को व्यवहारिक अनुभव प्राप्त नहीं हो पाता। 82.64 प्रशिक्षणार्थियों ने माना कि इन संस्थानों में सूक्ष्म शिक्षण एवं कक्षा शिक्षण वांछित व अनिवार्य कार्य दिवस के अनुरूप नहीं कराया

तालिका-4 निजी संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की शिक्षण कार्य सम्बन्धी समस्याएँ

क्र. सं.	समस्या का स्वरूप	सहमत पुरुष प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत महिला प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	समस्त सहमत प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत
1.	निजी प्रशिक्षण संस्थानों में मानकानुसार शिक्षकों का अभाव पाया जाना	80.00	80.59	81.69	79.12	80.35
2.	शिक्षकों के अभाव में एक शिक्षक द्वारा एक से अधिक विषय पढ़ाया जाना	81.05	82.08	81.69	81.31	81.53
3.	शिक्षकों द्वारा शिक्षण- अन्तःक्रिया एवं विद्यार्थियों के विभिन्न मानसिक स्तर पर ध्यान न देना	84.21	86.56	84.50	85.71	85.24
4.	संस्थानों में लैंग्वेज लैब, कम्प्यूटर लैब, साइंस लैब एवं ई.टी. लैब इत्यादि के व्यवहारिक प्रयोग का अभाव	87.36	88.05	88.73	86.81	87.73
5.	सूक्ष्म शिक्षण एवं कक्षा शिक्षण को वांछित कार्य दिवस के अनुरूप न कराना	82.10	83.58	80.28	84.61	82.64
6.	विभिन्न विषय-विषेयज्ञों द्वारा अतिथि व्याख्यान/ विशेषज्ञ पाठ न कराया जाना	70.52	71.64	69.01	72.52	70.92
	योग	80.87	82.08	80.98	81.68	81.40

जाती। 70.92 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने विभिन्न विषय-विशेषज्ञों द्वारा अतिथि व्याख्यान/विशेषज्ञ पाठ कराये जाने के अभाव को समस्या के रूप में स्वीकार किया। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के प्रति प्रशिक्षणार्थियों के सभी वर्गों का लगभग समान दृष्टिकोण पाया गया।

निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण-

शिक्षा के विभिन्न प्रमुख उद्देश्यों में शिक्षाविदों ने जीविकोपार्जन के उद्देश्य को प्रमुखता से स्थान दिया है। शिक्षित हाथों को रोजगार न सिर्फ व्यक्ति के वैयक्तिक विकास में सहायक होते हैं बल्कि वे देश

और समाज के उत्थान में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते हैं यह एक कटु अनुभव रहा कि प्रशिक्षणार्थी सेवायोजन के क्षेत्र में सर्वाधिक समस्याग्रस्त पाये गये। तालिका-5 में सेवायोजन से सम्बन्धित विभिन्न उप समस्याओं पर प्रशिक्षणार्थियों की प्रतिक्रिया के अनुसार 94.73 प्रतिशत पुरुष प्रशिक्षणार्थी सेवायोजन से सम्बन्धित समस्याओं से ग्रस्त पाये गये वहीं 93.12 प्रतिशत महिला प्रशिक्षणार्थियों ने भी सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं को गम्भीरता से अनुभव किया। विज्ञान एवं कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का भी सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं के प्रति लगभग समान अभिमत पाया गया। 93.23 प्रतिशत विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थी सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं से परेशान थे, वहीं कला वर्ग के 94.72 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं से ग्रसित पाये गए। पुरुष एवं महिला वर्ग तथा विज्ञान एवं कला वर्ग के समूहों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हुआ कि लगभग 93.95 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने सेवायोजन से सम्बन्धित समस्याओं को उचित माना।

विवेचन-तालिका-5 से स्पष्ट है कि निजी संस्थानों के 93.95 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं से चिन्तित थे। 98.73 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने सेवायोजन के क्षेत्र की सबसे प्रबल समस्या के रूप में निजी संस्थानों में सेवायोजन विभाग के अभाव का स्वीकार किया। इसी क्रम में 85.48 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने माना कि पाठ्यक्रम पूर्ण कर लेने के उपरान्त भी रोजगार की प्रकृति निश्चित नहीं होती। 94.94 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों का मानना था कि पाठ्यक्रम पूर्ण कर लेने वाले छात्रों के लिए संस्थान में निर्देशन एवं परामर्श का अभाव होता है। 93.67 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने यह स्वीकार किया कि क्षेत्रीय परिवेश में उपलब्ध निजी/सार्वजनिक विद्यालयों से इन संस्थानों का रोजगार के विषय में कोई सम्बन्ध नहीं होता। 96.93 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने यह माना कि रोजगार विषयक मांग एवं पूर्ति सम्बन्धी कोई सर्वेक्षण भी संस्थानों द्वारा नहीं कराया जाता। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रशिक्षणार्थियों की सेवायोजन से सम्बन्धी समस्याओं

तालिका-5 निजी संस्थानों के प्रशिक्षणार्थियों की सेवायोजन सम्बन्धी समस्याएँ

क्र. सं.	समस्या का स्वरूप	सहमत पुरुष प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत महिला प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	सहमत कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत	समस्त सहमत प्रशिक्षणार्थियों का प्रतिशत
1.	निजी संस्थानों में सेवायोजन विभाग का अभाव पाया जाता है	98.94	98.50	98.59	98.90	98.73
2.	पाठ्यक्रम पूर्ण कर लेने के उपरान्त भी रोजगार की प्रकृति निश्चित नहीं होती	87.36	83.58	83.09	87.91	85.48
3.	पाठ्यक्रम पूर्ण कर लेने वाले छात्रों के लिए संस्थान में निर्देशन एवं परामर्श का अभाव होता है	95.78	94.02	94.36	95.60	94.94
4.	क्षेत्रीय परिवेश में उपलब्ध निजी/सार्वजनिक विद्यालयों से निजी संस्थानों का रोजगार के विषय में कोई सम्बन्ध नहीं होता	94.73	92.53	92.95	94.50	93.67
5.	रोजगार विषयक मांग एवं पूर्ति सम्बन्धी कोई सर्वेक्षण भी संस्थान द्वारा नहीं कराया जाता	96.84	97.01	97.18	96.70	96.93
	योग	94.73	93.12	93.23	94.72	93.95

के प्रति निजी संस्थानों में उदासीन वातावरण पाया गया।

#### अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष

- निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले प्रशिक्षणार्थियों को विभिन्न क्षेत्रों में अनेकों समस्याओं से जूझना पड़ता है।
- 84.42 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों में प्रवेश सम्बन्धी समस्याएँ

व्याप्त पायीं गयीं।

- प्रवेश सम्बन्धी समस्याओं के प्रति पुरुष एवं महिला वर्ग तथा विज्ञान एवं कला वर्ग में समस्या का स्तर लगभग एक समान पाया गया।
- शुल्क सम्बन्धी समस्याओं को लेकर 87.46 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थी समस्याग्रस्त पाये गये।

- महिला प्रशिक्षणार्थी 86.86 प्रतिशत की अपेक्षा पुरुष प्रशिक्षणार्थी 87.99 प्रतिशत शुल्क सम्बन्धी समस्याओं से अधिक ग्रस्त थे।
- शुल्क सम्बन्धी समस्याओं के सन्दर्भ में विज्ञान एवं कला वर्ग की समस्याओं का स्तर लगभग एक समान रहा।
- 81.40 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने शिक्षा कार्य सम्बन्धी समस्याओं के प्रति चिन्ता दर्शायी।
- शिक्षण कार्य से सम्बन्धित समस्याओं के प्रति महिला वर्ग की प्रशिक्षणार्थी 82.08 प्रतिशत, पुरुष वर्ग 80.87 प्रतिशत की तुलना में अधिक समस्याग्रस्त पायी गयीं।
- कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थी 81.68 प्रतिशत, विज्ञान वर्ग के प्रशिक्षणार्थी 80.98 प्रतिशत की तुलना में अधिक चिन्तित पाये गये।
- 93.95 प्रतिशत प्रशिक्षणार्थियों ने सर्वाधिक रूप से सेवायोजन के क्षेत्र में समस्याओं का अनुभव किया।
- पुरुष वर्ग के प्रशिक्षणार्थी 94.73 प्रतिशत, महिला वर्ग के प्रशिक्षणार्थी 93.12 की तुलना में सेवायोजन सम्बन्धी समस्याओं से अधिक ग्रस्त पाये गये।
- 94.72 प्रतिशत कला वर्ग के प्रशिक्षणार्थियों ने विज्ञान वर्ग 93.23 प्रतिशत की तुलना में सेवायोजन के क्षेत्र में अधिक समस्याएँ व्यक्त की।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गेज, एन.एल. "द थ्योरीज ऑफ टीचिंग", इन हेन्ड बुक रिसर्च इन टीचिंग, शिकागो, रे. मेक नेली एण्ड कम्पनी, 1964.
2. दिनेश चन्द्र जोशी, चतरसिंह मेहता 2007, "शिक्षक-प्रशिक्षण के सिद्धान्त और समस्याएँ", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. राजाराम भादु, "शिक्षा का निजीकरण, कुछ बेतरतीब नोट्स", अंक 1-2, जनवरी-अप्रैल, 2008 (संयुक्तांक), शिक्षा विमर्श, जयपुर.

4. डॉली सिमोन, "ए स्टडी ऑफ द प्रॉब्लम्स फेसड बाई इगू स्टूडेण्ट्स, इण्डियन जर्नल ऑफ ओपन लर्निंग", वाल्यूम-5 नं.-2, पेज स.-30-39, जुलाई 1996.
5. डा. आर.पी.सिंह, "अध्यापक शिक्षा की गुणवत्ता में शिक्षण अभ्यास तथा शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों की भूमिका". अध्यापक शिक्षा: गुणात्मक विकास, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-2007.
6. डा. रामबली यादव, "व्यवसायीकरण के आलोक में स्वचित्तपोषित शिक्षक-शिक्षा संस्थाएँ" अध्यापक शिक्षा: गुणात्मक विकास, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-2007.
7. प्रोफेसर द्वाविर आर. कुरेशी, "डिस्कशन ऑन प्रोब्लम्स फेसड बाई स्टूडेण्ट्स इन फिजीकल एजुकेशनल कॉलेजेज", इण्टरनेशनल रिसर्च विजडम, इण्टरनेशनल इन्वेस्टड, रेफरीड रिसर्च जर्नल, इश्यू-2, वाल्यूम-1, फरवरी 2013.
8. अंसारूल हसन, "फ्टीट्यूड ऑफ बी.एड. स्टूडेण्ट्स एट बी.बी.एस. पूर्वांचल यूनिवर्सिटी, जौनपुर टूवाइस इण्टरनेल इवेल्यूशन: ए कम्प्रेटिव स्टडी", एजुकेशनल रिसर्च इण्टरनेशनल, वाल्यूम-1, नं0-1, फरवरी 2013.

## शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन के उपरान्त वाराणसी जिले के प्राथमिक विद्यालयों में संरचनात्मक सुविधाओं का अध्ययन

डा. बुद्ध प्रिय

व्याख्याता, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)

रुचि सुमन

जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर



shodhshree@gmail.com

**भा**रत ने स्वतंत्रता पश्चात अपने समवर्ती सूची की धारा 45 में यह संकल्प लिया था कि "राज्य इस संविधान के लागू होने के समय से 10 वर्ष के अन्तर्गत सभी बच्चों के लिए जब तक वे चौदह वर्ष की आयु न पूर्ण कर लें निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगा।" इस संकल्प की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार की नीतियाँ और अधिनियम बनाये। शिक्षा के अधिकार को भारत सरकार ने फंडामेंटल राइट्स बनाने के लिए या संविधान की धारा 21 में संशोधन कर धारा 21-ए को जोड़ कर 27 अगस्त 2009 को शिक्षा का अधिकार अधिनियम पारित किया जो 1 अप्रैल 2010 से लागू हुआ इस अधिनियम के अनुसार 6 से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बालक को अपने नजदीकी सरकारी विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार होगा इसके लिए उन्हें किसी प्रकार का शुल्क व खर्च नहीं देना होगा इसके अतिरिक्त अधिनियम में सरकार, शिक्षक माता पिता तथा विद्यालय के लिए कर्तव्य एवं मानकों को निर्धारित किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से शोधकर्ता यह प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है कि RTE 2009 के क्रियान्वयन के उपरान्त विद्यालयों में उपलब्ध संरचनात्मक सुविधाएँ क्या अधिनियम के अनुरूप हैं अथवा नहीं।

शिक्षा के संदर्भ में भिन्न-भिन्न शिक्षाशास्त्रीयों, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने निःशुल्क और अनिवार्य बनाने के आवश्यकता पर बल दिया है। सन् 1999 के अनुसार "शिक्षा अन्तर-निहित व्यक्तित्व को बनाती है।

अतः यह निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए।" शिक्षा आयोग भी इसी सिद्धान्त को ध्वनित करता है कि शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाकर भारत को सशक्त किया जाये 1937 में महात्मा गांधी ने सार्वभौमिक और अनिवार्य शिक्षा की वकालत की। मानवाधिकार घोषणा पत्र के द्वितीय अनुच्छेद में कहा गया है। कि "प्रत्येक बालक का शिक्षा पर समान अधिकार है।" संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकार घोषणा पत्र के अनुच्छेद 26(1) में भी निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया गया है अनुच्छेद 26 (2) 13 (1) में शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के वकालत यूनाटेड नेशंस डिवलपमेंट ऑन ह्यूमन राइट्स करता है। यूनेस्को 1989 के अनुच्छेद 29 में कहा गया है कि "प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए।" यह तथ्य द इंटरनेशनल कनेन्ट आन इकानामिक सोशल एण्ड कल्चरल राइट्स भी अपने अनुच्छेद 13(2) में प्रस्तुत करता है यूनेस्को और यूनेस्को बालक को निःशुल्क और मौलिक शिक्षा देने की वकालत करते हैं। भारतीय परिपेक्ष में संविधान की धारा 45, 46, 21, 21 ए और 51 ए में अधिनियम की आवश्यकता ध्वनि होती है उच्चतम न्यायालय के केरला शिक्षा एक्ट 1959, पंजाब प्राथमिक शिक्षा एक्ट 1960, गुजरात अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा एक्ट 1961 उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा एक्ट 1972 और राजस्थान प्राथमिक शिक्षा एक्ट 1964 के सन्दर्भ में दिये गये निर्णयों से RTE की अपरिहार्यता परिलक्षित होती है।

बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के प्रावधान बालक के निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा सरकार स्थानीय प्राधिकारी व माता पिता का कर्तव्य, केन्द्र एवं राज्य की भूमिका, विद्यालय शिक्षक का दायित्व, विद्यालय के मान्यता का मापदण्ड शिक्षक विद्यार्थी अनुपात न्यूनतम कार्य दिवस शिक्षकों की योग्यता आदि का प्रावधान करता है।

**समस्या कथन-** शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन के उपरान्त चाराणसी जिले के प्राथमिक विद्यालयों में संरचनात्मक सुविधाओं का अध्ययन।

**अध्ययन का उद्देश्य -** शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के क्रियान्वयन के उपरान्त चाराणसी जिले के प्राथमिक विद्यालयों के संरचनात्मक सुविधाओं का अध्ययन करना तथा शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के द्वारा अनुमोदित प्राथमिक विद्यालयों के भवन प्रस्तकालय, खेल मैदान, शिक्षक।

**परिकल्पना-** अनिवार्य सामग्री का अध्ययन करना।

**अध्ययन की विधि-** प्रस्तुत अध्ययन में 'वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि' का प्रयोग किया गया है।

**जनसंख्या एवं न्यादर्श-** प्रस्तुत अध्ययन के लिए शोधकर्ता ने

चाराणसी जिले के प्राथमिक विद्यालयों को जनसंख्या के रूप में लिया न्यायदर्श के रूप में शोधकर्ता ने विभिन्न विद्यालयों से 100 विद्यार्थियों का चयन किया।

**उपकरण-** अध्ययन के उद्देश्य की दृष्टि से शोधकर्ता ने स्वनिर्मित 'प्राथमिक विद्यालय संरचनात्मक सामग्री प्रश्नावली' का प्रयोग किया जिसमें विद्यालय के संरचनात्मक सामग्री के संदर्भ में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर को 'हाँ' या 'नहीं' में देना था प्रश्नावली में प्रश्न RTE अधिनियम द्वारा अनुमोदित विद्यालयी संरचनात्मक सुविधा से संबंधित है।

**परिकल्पना-** शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के द्वारा अनुमोदित विद्यालयी संरचनात्मक सुविधा प्राथमिक विद्यालयों में उपलब्ध होगी।

**शून्य परिकल्पना-** शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के द्वारा अनुमोदित विद्यालयी संरचनात्मक सुविधा प्राथमिक विद्यालयों में उपलब्ध नहीं होगी।

**आँकड़ों का विश्लेषण व व्याख्या -** आँकड़ों के विश्लेषण के लिए शोधकर्ता ने ने Mean, Median, Mode और Percentile का प्रयोग किया प्रश्नावली के प्रश्नवार प्रश्नों की व्याख्या।

कथन	अनुक्रिया 'हाँ' में	अनुक्रिया 'नहीं' में
1- "क्या आपके विद्यालय में प्रत्येक शिक्षक" के लिए अलग अलग शिक्षक की व्यवस्था है?"	97%	3%
2- "क्या आपके विद्यालय में प्रधानाध्यापक के बैठने का अलग कक्षा है?"	95%	5%
3- क्या आपके विद्यालय में शौचालय है?"		
4- "क्या आपके विद्यालय में लड़के लड़कियों के लिए अलग अलग शौचालय की व्यवस्था है?"	7%	93%
5- "क्या आपके विद्यालय में पीने योग्य जल की व्यवस्था है?"	90%	10%
6- "क्या आपके विद्यालय में दोपहर का भोजन मिलता है?"	100%	-
7- "क्या आपके विद्यालय में मिड-डे मिल के लिए अलग से रसोई घर है?"	42%	58%
8- क्या दोपहर का भोजन आपके विद्यालय के खुले मैदान में बनता है?	-	100%
9- क्या आपके विद्यालय में दोपहर का भोजन बाहर से बन कर आता है।	15%	85%
10- क्या आपके विद्यालय में खेलने का मैदान है?	56%	44%

11- क्या आपके विद्यालय की ओर से खेल सामग्री प्रदान की जाती है?	5%	95%
12- क्या आपके विद्यालय में चारदिवारी है?	92%	8%
13- क्या आपके विद्यालय में ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी के साथ ढलान भी है।	10%	90%
14- क्या सीढ़ियों पर रेलिंग है?	14%	86%
15- क्या शिक्षक श्यामपट का प्रयोग करते हैं?	95%	5%
16- क्या शिक्षक चार्ट का प्रयोग करते हैं।	9%	91%
17- क्या आपके विद्यालय में ग्लोबल का प्रयोग होता है?	8%	92%
18- क्या पुस्तकालय है ?	2%	98%
19- क्या आपके विद्यालय में समाचार पत्र पढ़ने के लिए उपलब्ध कराये जाते हैं।	100%	-
20- क्या आपके शिक्षक प्रतिदिन पढ़ाने आते हैं।	63%	47%

व्याख्या - 'हैं' में की गई माध्यमान प्रतिशत 34.30 प्रतिशत 'नहीं' में की गयी अनुक्रिया का प्रतिशत 56 प्रतिशत।

उपरोक्त व्याख्या को विश्लेषण करने के उपरान्त यह स्पष्ट है कि शिक्षा अधिकार 2009 के क्रियान्वयन के पश्चात् वाराणसी मण्डल के विद्यापीठ ब्लॉक के अधिकांश प्राथमिक विद्यालयों द्वारा अधिनियम द्वारा अनुमोदित मौलिक भूत संरचना उपलब्ध नहीं है शिक्षकों की संख्या व शिक्षक शिक्षार्थी अनुपात में बहुत ही विभेद है शिक्षकों के प्रशिक्षण उनको बाल मनोविज्ञान का ज्ञान निहायत ही चिन्ता का विषय है शिक्षार्थियों को मध्यम भोजन दिया तो जाता है परन्तु उसमें गुणवत्ता का घोर अभाव है प्रस्तुत शोध पत्र से शोधकर्ता इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कानून बना देने मात्र से शिक्षा सार्वभौमिक नहीं हो जायेगी उसके लिए प्रशिक्षक शिक्षक और ग्राम पंचायतों की प्रगतिशील सहभागिता आवश्यक है।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कुमार, दिनेश (2001) प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण को प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन लघुशोध प्रबन्ध, वाराणसी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पृ.स.56
2. गुप्ता, एस.पी.(2001) भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन पृ.सं. 113
3. श्रीवास्तव प्रियंका (2006-07) शिक्षा के सार्वभौमिकरण को प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन लघुशोध प्रबन्ध, वाराणसी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पृ.स. 26
4. अग्निहोत्री, आर. (2008) आधुनिक भारतीय शिक्षा समस्याएँ और समाधान, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ.सं. 35-47

5. Buch, M.B. (Ed) (1982-88). Fourth Survey of research in education. Vol II. New Delhi NCERT.
6. Buch, M.B. (Ed) (1988-92). Fifth Survey of educational research. Vol. II. New Delhi NCERT.
7. Gupta and Gupta - (1992) "Operation Black Board Scheme : A Study of over use of available facilities " dissertation, BHU, Varanasi, pp-45
8. Sarve Shiksha Abhiyan (2001). Retrieved from <http://ssa.nic.in/>
9. A Human Right Based Approach for Education for All. UNESCO and UNICEF 2007. PP.7 <http://unesdoc.unesco.org>
10. Gazette of India (2010) Right of children to free and compulsory Education Act, 2009 New Delhi Retrieved from [http://mhrd.gov.in/sites/upload\\_files/mhrd/files/RTII.pdf](http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/RTII.pdf).

## संगीत सम्राट मियाँ तानसेन के गुरु - अष्टछाप कवि - गोविंदस्वामी

डॉ. नमिता त्रिपाठी

सहायक प्राध्यापक, शा.क.रा.क.महाविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

**भा**रतीय दर्शन ने आत्मा को परमात्मा का अंश माना है। उससे तादात्म्य स्थापित करने हेतु कई मार्ग सिद्ध किए हैं। योग, ध्यान, साधना का ही एक अंग है कीर्तन गान। शब्द व अर्थ से परिपूर्ण व सात्विक श्रृंगार से भरपूर रसपूर्ण गायन की महत्ता स्थापित करने में कीर्तनगान की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कीर्तनगान के जरिए भक्त कवियों ने जहाँ संगीत के लिए भरपूर व समृद्ध काव्य निर्मिती की, वहीं साहित्य में गेय पद विद्या का प्रचार किया।

कुंभनदास कीर्तनगान परम्परा के पहले पुष्टिमार्गी कवि माने गए हैं। प्रेम और भक्ति रस में पगे इन कीर्तन गायकों का मार्ग अष्टछाप के कवियों द्वारा प्रशस्त हुआ, जिन्हें यह विरासत बल्लभ सम्प्रदाय से प्राप्त हुई। अष्टसखाओं की परम्परा में कुंभनदास ज्येष्ठ सखा स्वीकारे गए। उनकी परम्परा में तदनंतर परमानंददास, सूरदास, कृष्णदास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, नंददास, चतुर्भजदास आदि सखा माने गए।

इस प्रपत्र के माध्यम से मैं महाकवि गोविंदस्वामी के विषय में चर्चा कर रही हूँ। चूंकि मेरा विषय संगीत गायन है और संगीत क्षेत्र का बहुत बड़ा व विश्व प्रसिद्ध नाम मियाँ तानसेन का है। इस दृष्टि से गोविंद स्वामी का एक नवीन पक्ष उजागर हुआ है कि मियाँ तानसेन को उन्होंने संगीत के कुछ अलभ्य स्वरूप का मार्गदर्शन दिया था। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए मैंने आचार्य गोविंद स्वामी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सांगीतिक दृष्टि से अल्प शब्दों में समेटने का प्रयास इस शोध पत्र में किया है।

वस्तुतः शास्त्रशुद्ध दृष्टि से कीर्तनगान करने के कारण ही संगीत सम्राट तानसेन गोविंद स्वामी से प्रभावित थे। गोविंद स्वामी का जन्म अनुमानतः सन् 1562 ई. को ग्वालियर के निकट आंतरी नामक क्षेत्र का स्वीकारा गया है। संभवतः इसीलिए ग्वालियर के बेहट क्षेत्र में तानसेन का गोविन्द स्वामी जैसे कीर्तनियों से प्रभावित होना सहज जान पड़ता है। "दो सौ वैष्णव की वार्ता" इस ग्रंथ में गोविन्द स्वामी को आंतरी का कीर्तनियों स्वीकारा गया है। आंतरी तब भी ग्वालियर क्षेत्र का स्वीकारा गया और आज भी आंतरी ग्वालियर जिले का है। उस समय ग्वालियर संगीत का केन्द्र था। यहाँ पर संगीत के ध्रुवपद गायन की शिक्षा दी जाती रही। गोविन्द स्वामी कदाचित् संगीत कला में पारंगत न हो क्योंकि "दो सौ वैष्णव की वार्ता" एवं "अष्टसखान की वार्ता" में उल्लेखित उनके जीवन चरित्र में कहीं भी उनके माता-पिता अथवा गुरु का उल्लेख नहीं है। तथापि ग्वालियर के इतने निकट रहवासी होने और अपनी भगिनी कान्हाबाई के साथ गुंसाई विठ्ठलनाथ के शिष्यत्व को ग्रहण करने के कारण वे निसंदेह उत्कृष्ट कीर्तनगायक थे। इसी का प्रभाव मानते हुए उन्हें ग्वालियर के राजा मानसिंह प्रवर्तित ध्रुवपद शैली में पारंगत होना स्वीकारा गया है। और इसी कड़ी के कारण तानसेन उनसे प्रभावित होकर कीर्तनगान सीखने गए थे। यह क्रम किस तरह बना इसकी पुष्टि एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रसंग देता है। यह प्रसंग दो सौ बावन वैष्णव वार्ता के खण्ड दो, पृ. सं. 151, 152 पर उल्लेखित है। एक बार तानसेन ने गुंसाई जी को अपना गायन सुनाया। तब गुंसाई जी ने 500 रु. व उसके ऊपर एक कौड़ी देकर उनका सम्मान किया। तानसेन ने पूछा - "महाराज ये कौड़ी क्यों? तब गुंसाई जी ने शंका निवारण करते हुए कहा- "तानसेन तुम बादशाह के गवैये हो इसीलिए 500 रु. तथा तुम्हारी वाणी

सुनकर ये कौड़ी दी है। तानसेन जैसा सिद्धहस्त कलाकार गायक यह सुनकर स्तंभित हो गया।

तथापि अदब से उन्होंने गुंसाई जी से निवेदन किया कि कृपया उदाहरण देकर बताइए कि मेरी कीमत इतनी कम कैसे हुई? तब गुंसाई जी ने गोविन्द स्वामी से कीर्तनगान करने के लिए कहा। गोविन्दस्वामी ने राग सांरा में "श्री बल्लभनंदन रूप अनूप स्वरूप कन्हैयानजाई" तथा सुनरी सखी दुपहरी की बिरियाँ ब्रैडि झरोखन पोवती हार" ये दो पद गाए। कहते हैं तानसेन ये पद सुनकर हतप्रभ रह गए तथा उनके मुख से सहज ही निकला- "गोविन्द स्वामी के गान के समक्ष मेरा गान तो मखमल के आगे टाट जैसा है।"

आज हम इसकी कल्पना कर सकते हैं कि जिन तानसेन को सारा विश्व संगीत का ईश स्वीकारता हो, उन तानसेन को भी गोविन्दस्वामी का शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा हुई। गोविन्द स्वामी की वार्ता और पद संग्रह पृष्ठ क्रमांक 50 और पृ. 423 के कुछ पदों से जान पड़ता है कि वे न सिर्फ भक्तियुक्त भावप्रवण कीर्तनियाँ थे, वरन् संगीत के शास्त्र पक्ष के भी गहन ज्ञाता थे।

यद्यपि संगीत प्रकाण्ड की सूची में ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं भी गोविन्दस्वामी का उल्लेख नहीं है। न ही उन्होंने अपने स्वरचित पदों में स्वतः के संगीत निष्णात् होने की चर्चा की है। परन्तु पुष्टिमार्गी होने के पूर्व वे उत्कृष्ट कवि और गायक मान्य हुए हैं। परन्तु जैसी कि कहावत है कि ईश्वर की ली लगने पर सारे उपादान व्यर्थ से जान पड़ते हैं इसीलिए अपने तरुण काल में ही ग्रहस्थाश्रम से विरक्त हो गोविन्द स्वामी ब्रज के महावन नामक स्थान में रहकर भगवत् भक्ति में लीन हो गए। कदाचित् यहीं पर उन्होंने अभिजात संगीत में स्वरचित पदों की उत्कृष्ट रचना की जिनमें सप्त सुर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, बाईस सित, सरगम के स्वर और बसंत, केदार, सारंग, कान्हड़ा, कल्याण, बसंतमल्लार जैसे राग एवं बीन, झांझ, पखावज, मृदंग, रबाब, तंबूरा, उफ, मुरज, आवज, डिम-डिम, वेनु, दंडुभी, भेरि, होल, झलरी, शंख, शहनाई जैसे वाद्यों का भी उल्लेख अपने पदों में किया। गोविन्द स्वामी की इसी शास्त्रोक्त कला से प्रभावित होकर बल्लभ संप्रदाय के साहित्य के आधार पर "स्वाल" नामक झांकी के समय कीर्तन गायन हेतु उनकी पदस्थापना की गई थी। कीर्तन संगीत में साथ करने वाले आठ साथी होते थे जिन्हें "झालरिया" कहा जाता था। वे सभी उत्कृष्ट संगीत ज्ञाता होते थे। किन्तु गोविन्द स्वामी न सिर्फ उत्कृष्ट गायक, संगीतज्ञ ही थे वरन् वे आशुकि भी थे।

इसीलिए भक्ति भाव से प्लावित हो वे कीर्तन प्रारंभ होने पर भी नवीन पद रच लेते थे। अष्टसखाओं में गोविन्द स्वामी ही सुप्रसिद्ध गायक हुए जो शास्त्र पक्ष से भी सखल थे। श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा में उन्होंने करीब 500 पदों की रचना की जो पुष्टिमार्गी साहित्य व भारतीय संगीत की अमूल्य सम्पदा है।

गिरधर लाल जी रचित "120 बचनमृत" इस ग्रंथ में ऐसा उल्लेख है कि गुंसाई श्री विठ्ठलनाथ की निर्वाण वार्ता सुनते समय वे इतने शोक संतप्त हो उठे कि उन्होंने उसी समय गोवर्धन पर्वत की एक गुफा में अपना देह त्याग दिया। पुष्टि संप्रदाय की मान्यतानुसार गोविन्द स्वामी का देहावसान संवत् 1642 फाल्गुन कृष्ण पक्ष सप्तमी को हुआ। गोवर्धन पर्वत की जिस कंदरा में उनका देहावसान हुआ, उस स्थान पर श्रद्धांजली देते हुए उनके स्मरणार्थ समाधि बनाई गई है।

अस्तु, इस शोध-पत्र के माध्यम से मैंने अष्टसखाओं के एक सिरमौर गायक स्वामी के जीवन पक्ष की उन घटनाओं एवं उनके कृतित्व से संबंधित उस पक्ष को रेखांकित करने का प्रयास किया है, जिसका सीधा संबंध संगीत की कीर्तनगान परंपरा एवं गायन कला से है। मैं स्वयं संगीत की एक विद्यार्थिनी होने के नाते ऐसे कलात्मक, कलासाधक एवं गायन निष्णात् अष्टमार्गी गायक एवं पद रचयिता को शत शत बंदन करती हूँ।

इस संत साधक के कुछ पद जो राग व ताल में निबद्ध हैं तथा कुछ झांकियाँ जो आज भी समयोचित राग में निबद्ध हैं जो मेरे शोध पत्र का प्रमाण सिद्ध करती हैं, आगामी पृष्ठों पर परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत हैं। गोविन्द स्वामी रचित कुछ पद

गोविन्द स्वामी का कोई स्वतंत्र काव्यग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उन्होंने मुक्त पदों की रचना कीर्तन गायन हेतु की। तथापि उपलब्ध पदों में से दो पद प्रस्तुत हैं जो रागों पर आधारित हैं:-

राग जंगला ताल धुमाली

गुजरिया तू गर्व गहोली उत्तर नाहीं देत।।

चलत गजगति गोरस की माती अतिरंग भरियां।।

दिन दिन दान मार गई है हमारी कबहु पाले नहि परियां।।

गोविन्द प्रभु कहत सखनसो घेरोघेरो तब वाय अंचल धरियां।।

राग नट - आडा चैताल

प्रीतम प्रीती ही ते पैये।

यद्यपि रूप गुण शील सुधरता इन बातन न रिझेये।।

सत कुल जनम करम शुभ लछन वेद पुराण पदैये।।

गोविंद बिना स्नेहसू आली रसना कहानु नचैये।।

#### राग समय व्यवस्थानुसार गोविन्द स्वामी के राग

क्रमांक	झांकी	समय	राग
1.	मंगला	सुबह 6.30 से 6.00 बजे तक	ललित, भैरव, विभास
2.	श्रृंगार	सुबह 7.30 से 8.00 बजे तक	विलावल रामकली, गुणकली
3.	स्वाल	सुबह 8.30 से 9.00 बजे तक	देवगांधार, तोड़ी, आसावरी
4.	राजभोग	पूर्वाह्न 10.00 से 10.30 बजे तक	आसावरी, सारंग
5.	उत्थापन	अपराह्न 3.30 से 4.00 बजे तक	धनाश्री, भीम पलासी

6.	संध्याभोग	शाम 4.30 से 5.00 बजे तक	गौरी, पूरिया, पूर्वी
7.	संध्या आरती	शाम 5.30 से 6.00 बजे तक	श्री, जैतश्री
8.	शयन	रात्रि 6.30 बजे से 7.00 बजे तक	अमन, कामोद, बिहाग, केदार

**विशेष:-** उपरोक्त राग आज भी इन्हीं समय व कालावधियों में प्रस्तुत होते हैं।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. 252 वैष्णव की वार्ता खण्ड-3,
2. 252 वैष्णव की वार्ता खण्ड-2,
3. गोविन्द स्वामी- वार्ता और पद संग्रह, पृष्ठ 168, 423,50,103
4. अष्टछाप्रीय भक्ति संगीत (हवेली संगीत, उद्भव और विकास प्रथम खण्ड)
5. मध्य कालीन संत साहित्य।
6. 84 वैष्णव की वार्ता।
7. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय भाग 1
8. दो सौ वैष्णव की वार्ता।
9. अष्टसखान की वार्ता।
10. अमृत - मराठी मासिक सन् 1986

## बालिका भ्रूण हत्या : एक अक्षम्य अपराध

डा. रमा शर्मा

व्याख्याता, राजकीय महाविद्यालय, कोटा



shodhshree@gmail.com

लड़का वारिस है तो, लड़की पारस है,  
लड़का मान है तो, लड़की अभिमान है।  
लड़का वंश है तो, लड़की अंश है।  
लड़का गीत है तो, लड़की संगीत है।

**र**धा के बिना श्याम आधा है। शक्ति के बगैर शिव पूर्ण नहीं है। संतुलन, सहनशीलता और सृजन का पर्याय है स्त्री, स्त्री है तो दुनिया में श्रृंगार बचा है, प्रेम का भाव बचा है, घृणा सिर नहीं उठा पाती है। फिर भी अफसोस बालिका भ्रूण हत्याएं बढ़ती जा रही है। प्रश्न बस ये है कि हम कैसा जीवन चाहते हैं, कैसी प्रकृति चाहते हैं, जो स्त्री के बिना सोची जा रही है, मांगी जा रही है। नवरात्रों में ढूँढ़-ढूँढ़ कर पूजी जाने वाली बालिका आज जन्म ही नहीं बल्कि जन्म से पहले भी मानवीय क्रूरता, बर्बरता और नृशसता का शिकार हो रही है। देश को बालिकाओं से ही वंचित किया जा रहा है। यह एक जघन्य पाप है, अपराध है, विकृत समाज की शुरुआत है, हमारी विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के लिए गंभीर खतरा है। हमारे धार्मिक शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्त्रियों के शरीर को पुण्य से भी आघात नहीं पहुंचाना चाहिए क्योंकि वो पवित्र है। इसी कारण हिन्दुओं में स्त्रियों के लिए मृत्यु दण्ड का प्रावधान नहीं है।

“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः” (मनुसंहिता) मानने वाले देश में पिछले कुछ दशकों से नारी के प्रति अपराध और हिंसा की घटनाओं में बहुत वृद्धि हुई है। नारी को सुरक्षा प्रदान करने के स्थान पर पुरुषों ने नारी को अपमानित, तिरस्कृत किया है, उसकी उपेक्षा की है, उसका उत्पीड़न किया है, शोषण, अमानवीय, हिंसात्मक व्यवहार भी किया है। हिंसा का यह नया रूप हमारी संस्कृति और संस्कारों घोर उपहास व उल्लंघन है नारी बिना सृष्टि संरचना संभव नहीं है।

आज देवी दुख व परेशानी में है। उसे तथाकथित सभ्य समाज में अपने अस्तित्व के लिए लड़ना पड़ रहा है, जो उसकी पूजा करता है, तथाकथित दोहरे चरित्र वाला पाँखड़ी व आडंबर समाज अपनी जननी को ही जड़ों से उखाड़ फेंकने पर आमादा है। भारतीय समाज ने प्रारम्भ से ही बालिका को पराया धन कहा है। अतः कभी भी उसे हृदय से ही नहीं किया। संसार का हर प्राणी जीना चाहता है और किसी को भी किसी भी प्राणी का जीवन लेने का अधिकारी नहीं 'अहिंसा परमो धर्म' तथा चींटियों तक को आटा डालने की परम्परा वाले हमारे देश में आज तो बेटियों की जिन्दगी मां के गर्भ में ही खीनी जा रही है।

हमारे देश के संविधान की प्रस्तावना का मुख्य मन्त्र है न्याय, स्वतन्त्रता और समानता, इनमें भी तीनों पक्ष सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक शामिल है। मूल अधिकारों वाले भाग 3 में भी अनुच्छेद 14, अनु. 15, अनु. 21, 22 व 23 जो कि स्वतन्त्रता, समानता व जीवन के अधिकार के सम्बन्धित है जीवन अधिकार एक प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में आता है, जिसका आशय है कि लिए ईश्वर ने किसी भी व्यक्ति को यह हक नहीं दिया है कि कोई इन अधिकारों का अतिक्रमण करें। किन्तु हमारे देश में बालिका को जन्म लेने और अपना जीवन जीने के प्राकृतिक अधिकार से ही वंचित किया जा रहा है। इससे महिलाओं को अस्तित्व

उनकी अस्मिता और प्रकृति का संतुलन सब कुछ संकट में पड़ गया है।

सर्वप्रथम कन्या वध की प्रवृत्ति सन् 1789 में राजस्थान के कुछ जिलों में पाई गई। गुजरात में सूरत व कच्छ के क्षेत्र में भी यह देखने को मिली। पारश्विक शक्ति के प्रभुत्व के कारण नवजात बालिकाओं को हमेशा के लिए सुला दिया जाता रहा। बालिका शिशु हत्या के लिए कई बार ऐसे जघन्य प्रयोग किये जाते रहे हैं जिनके आगे कंस की दुष्टता भी फीकी पड़ जाए। उदाहरणार्थ- नवजात बालिका के मुंह पर तकिया रखकर या उसे बक्से में बंद कर उसकी सांस रुकवाना, या उसके मुंह में धतूरे के बीज या चावल के कच्चे दोनों डालकर अन्न नलिका तथा श्वास नलिका को बंद कर देना या उसकी देह पर चारपाई के पांव रखकर उस पर बैठ जाना इत्यादि। यह कुकृत्य दाइयों, बड़ी-बूढ़ियों द्वारा सबके समक्ष किया जाता है। भले ही भारतीय दण्ड संहिता के धारा 312-318 में ऐसी शिशु हत्या के लिए कड़ी सजा का प्रावधान है, फिर भी न केवल ऐसी हत्याएँ दर्ज नहीं की जाती, उनके लिए किसी को दंडित भी नहीं किया जाता है।

घर के बार अपना पराक्रम दिखाने वाले लोग, घर के अन्दर न जाने कैसी-कैसी अमानवीय प्रथाओं को पालते हैं। हमारे समाज में तो बालिका हत्या न केवल व्यक्ति या एक परिवार की सोच का विषय है। यहां पूरा समाज, गांव व समुदाय बच्ची जन्म को सहन नहीं कर पाता है।

आज सामाजिक परम्पराओं, कुरीतियों, कुप्रथाओं, धार्मिक विश्वासों में लड़कियों को अनचाहा तथा लड़कों को मनचाहा बनाया है। लड़कियों को न केवल हीन समझा जाता है बल्कि अंवाछित भी। समाज में बढ़ता दिखावा, देहेज प्रथा इत्यादि तथ्य लड़की को परिवार पर बोझ बना देते हैं। पुत्र पसंदी नियम भी है क्योंकि लड़का अपने साथ धन लाता है, जबकि लड़की धन से जाती है और लड़की को बोझ माना जाता है जो कि परिवार की प्रतिष्ठा का प्रतीक भी है। लड़की को कमतर माने जाने के कारण हमारे समाज में लड़की को

### तालिका भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात

वर्ष	प्रति हजार पुरुषों पर महिलाएँ
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1991	929
2001	933
2011	940

पसंद नहीं किया जाता, यदि हो जाय तो भारी मन से संतोष कर लिया जाता है कि कोई बात नहीं।

आज इस बालिका हत्या का एक अन्य गंभीर दुखद पहलू यह है कि आज उसे जन्म ही नहीं लेने दिया जा रहा है, अर्थात् गर्भ में ही बालिका भ्रूण को पहचान कर उसे समाप्त कर देने की घिनीनी प्रथा अर्थात् जन्म से पहले ही मृत्यु पिछले 20 वर्षों में 10 मिलियन बालिकाओं को मार दिया गया। यह एक ऐसा गंभीर अपराध है जिस पर अगर सख्ती से रोक नहीं लगाई गई इसके गंभीर परिणाम सामने आयेंगे। बालिका भ्रूण हत्या महिलाओं के अस्तित्व को न केवल नकारने बल्कि उसका समूल नाश करने का कुचक्र है।

**घटना महिला - पुरुष अनुपात - गंभीर चुनौती** बालिका शिशु हत्याओं के कारण आज हमारे देश में महिलाओं का अनुपात बहुत कम है। वर्ष 1901 में प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 972 था। जो आज काफी कम रह गया है। सरकारी प्रयासों के बावजूद 20वीं सदी में पुरुष-महिला अनुपात में निरन्तर गिरावट आती जा रही है। नोबल पुरस्कार विजेता डा. अर्मत्थ सेन ने इस स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा है कि भारत की 370 मिलियन मिसिंग वूमन, अर्थात् 37 करोड़ महिलाएँ कहाँ हैं ? उदारीकरण व वैश्वीकरण के दशक में अर्थात् 1991 से 2001 में 1000 पुरुषों पर 972 महिलाएँ भी जो सदी के अन्तिम दशक में 933 रह गईं।

जनगणना के आंकड़ों में चौकाने वाला तथ्य है कि पिछले वर्षों में भारत में 0 से 6 आयु वर्ग का लिंगानुपात 914 ही है न्यूनतम लिंगानुपात हरियाणा (830) में है केन्द्रशासित प्रदेश दमनदीव में (618) ही है। राजस्थान में (926) है। जम्मू कश्मीर, पंजाब, चंडीगढ़, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, बिहार, सिक्किम, अरुणाचल, नागालैण्ड, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि राज्यों में लिंगानुपात जनगणना 2011 के अनुसार राष्ट्रीय स्तर से कम पाया गया है। यूनिसेफ की रिपोर्ट के अनुसार इस कारण भारत में जनसंख्या में असंतुलन बढ़ रहा है। इसका प्रमुख कारण भारतीय समाज पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्त नहीं कर पाया है इसके अतिरिक्त चिकित्सा विज्ञान की अति आधुनिक देन अल्ट्रासाउण्ड तकनीकी जिसका आविष्कार आनुवंशिक विकारों की रोकथाम व भ्रूण के विकास का पता लगाने के लिए किया गया था, लेकिन इस तकनीक का जमकर दुरुपयोग भ्रूण लिंग परीक्षण के लिए होने लगा। कानूनी प्रतिबन्धों के बावजूद लिंग परीक्षण हो रहे हैं। पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली जैसे राज्यों ने इस मिथक को दूर कर दिया कि शिक्षा के प्रचार व प्रसार और आर्थिक प्रगति से इस तरह की समस्याएँ स्वयंमेव कम हो जायेगी लेकिन वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है जो जितना समर्थ है, शिक्षित है वह उतना ही इस मानसिकता से ग्रसित है।

**वैधानिक उपाय :-** समाज के संतुलन को बिगाड़ देने वाली इस समस्या से निपटने के लिए कानूनी उपाय भी किए गए हैं। बालिका शिशु हत्या को स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय दण्ड संहिता 1860 के द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है, हालाँकि इसके अन्तर्गत सजा न के बराबर है, बालिका भ्रूण हत्या को रोकने के लिए सन् 1994 में 'प्रसवार्थ

निदान तकनीकी (दुरुपयोग का विनियम व निवारण) अधिनियम 1994 पारित किया गया, जो 1 जनवरी, 1996 से प्रभाव में आया। उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी संशोधित आदेशानुसार संशोधित अधिनियम जनवरी, 2003 में प्रभावी हुआ। इस संशोधन का मुख्य उद्देश्य प्रसवपूर्ण लिंग चयन के साथ गर्भधारण पूर्व लिंग चयन को रोकना था। यह अधिनियम गर्भधारण पूर्व एवं प्रसवपूर्व निदान तकनीक (लिंग चयन प्रतिशोध) अधिनियम 1994 के रूप में 24 जनवरी, 2003 से प्रभाव में आया।

**कन्या भ्रूण क्या है -** गर्भ में विकसित भ्रूण के लिंग का आधुनिक तकनीक के माध्यम से पता लगाकर लड़की होने पर इसे गर्भ से असमय निकलवा देना। कन्या भ्रूण हत्या कहलाती है। इस अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान हैं-

- गर्भस्थ शिशु का लिंग परीक्षण कानूनी अपराध है। यदि कोई चिकित्सक लिंग परीक्षण करता है तो वह तीन वर्ष तक का कारावास व दस हजार रूपयें जुर्माने से दण्डित किया जावेगा। (धारा 23)
- जो व्यक्ति प्रसवपूर्ण परीक्षण तकनीकी का संचालन करेगा तथा भ्रूण लिंग के बारे सम्बन्धित गर्भवती महिला या उसके रिश्तेदारों को शब्द, संकेत या अन्य रीति से जानकारी करवायेगा तो वह व्यक्ति तीन वर्ष के कारावास तथा 10000/- रूपयें के जुमाने से दण्डित किया जा सकेगा। (धारा 5(2))
- गर्भ में पल रहे बच्चे के लिंग जाँच करने का विज्ञापन देना व गर्भवती स्त्री के उसके गर्भरूप शिशु के लिंग के बारे में जानने के लिए उकसाना भी अपराध है और तीन वर्ष तक के कारावास की सजा का प्रावधान है। (धारा 22)

**लैंगिक समानता सुनिश्चित करना -** महिलाओं की गरिमा और उनके अस्तित्व को बनाए रखना आज सबसे बड़ी चुनौती है। महिलाओं से जुड़ी समस्या यथा- घरेलू हिंसा, बलात्कार, दहेज, यौन उत्पीड़न, बाल विवाह, शिशु हत्या व कन्याभ्रूण हत्या आदि से तभी छुटकारा मिल सकता है जबकि न केवल कानून प्रवर्तनकारी मशीनरी सुदृढ़ हो, बल्कि महिलाओं का सामाजिक आर्थिक स्तर भी ऊँचा हो। पुरुष की पुरातन दृष्टिकोण मानसिकता में आमूल चूल परिवर्तन हो। महिलायें आर्थिक दृष्टि से सशक्त व राजनीतिक रूप से भी प्रभावी हो। इसके अतिरिक्त महिला के विरुद्ध होने वाले किसी भी अपराध को गंभीर अपराध की श्रेणी में रखा जावे। इसमें दो राय नहीं कि यदि हम देश की महिलाओं की आधी आबादी के लिए उनके जीवन की सुरक्षा तथा गरिमा की रक्षा सुनिश्चित न कर सके तो देश की प्रगति सदैव बाधित रहेगी और हम समवेशी विकास की अवधारणा को मूर्त रूप नहीं दे सकते।

महिलाओं की गरिमा और उनके अस्तित्व को बनाए रखना आज सबसे बड़ी चुनौती है। महिलाओं से जुड़ी समस्या यथा- घरेलू हिंसा, बलात्कार, दहेज, यौन उत्पीड़न, बाल विवाह, शिशु हत्या व कन्याभ्रूण हत्या आदि से तभी छुटकारा मिल सकता है जबकि न केवल कानून प्रवर्तनकारी मशीनरी सुदृढ़ हो, बल्कि महिलाओं का

सामाजिक आर्थिक स्तर भी ऊँचा हो। पुरुष की पुरातन दृष्टिकोण मानसिकता में आमूल चूल परिवर्तन हो। महिलायें आर्थिक दृष्टि से सशक्त व राजनीतिक रूप से भी प्रभावी हो। इसके अतिरिक्त महिला के विरुद्ध होने वाले किसी भी अपराध को गंभीर अपराध की श्रेणी में रखा जावे। इसमें दो राय नहीं कि यदि हम देश की महिलाओं की आधी आबादी के लिए उनके जीवन की सुरक्षा तथा गरिमा की रक्षा सुनिश्चित न कर सके तो देश की प्रगति सदैव बाधित रहेगी और हम समवेशी विकास की अवधारणा को मूर्त रूप नहीं दे सकते।

18वीं शताब्दी से स्वतन्त्रता प्राप्ति व उसके पश्चात आज तक अनेकों प्रयास इस ओर किये गये हैं ब्रह्मा समाज की स्थापन 1828, आर्य समाज 1875, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर 1856 (जिनके प्रयासों से 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पास हुआ) सती प्रथा निषेध अधिनियम 1829, बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 (शारदा अधि.) हिन्दू महिलाओं का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम 1937, अलग रहने, भरण-पोषण हेतु स्त्रियों का अधिकार अधिनियम 1946 लाये गये।

स्वतन्त्रता पश्चात विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956, अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम 1956, दहेज निरोधक अधिनियम 1961 लाये गये। उपरोक्त कानूनी उपायों के अतिरिक्त सरकार द्वारा महिलाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर कल्याणकारी योजनायें बनाने और संविधान में यथेष्ट संरक्षण प्रदान के उपरान्त आज भी नारी यदि शोषित पीड़ित गरीब व लिंग आधारित विषमता का शिकार है तो उसका महत्वपूर्ण कारण समाज व पुरुष की संकीर्ण मनोवृत्ति में अपेक्षित बदलाव का नहीं आना है। इसलिए हमारे नीति-निर्माताओं को महिलाओं के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाते हुए उनके लिए और बेहतर कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण व समुचित भागीदारी को भी सुनिश्चित करना होगा। महिला विकास से जुड़े कार्यक्रमों से भी आशानुरूप परिणाम नहीं मिल रहे हैं।

2009 से 24 जनवरी को राष्ट्रीय बालिका दिवस घोषित किया गया है। देश की पहली महिला राष्ट्रपति श्रीमति प्रतिभा पाटिल और परिवार कल्याण मन्त्रालय की 'बालिका बचाओं योजना' का शुभारम्भ किया था। उन्होंने इस बात पर अफसोस जताया कि लड़कियों को लड़कों के समान महत्व नहीं मिलता है। यह भेदभाव हमारे जीवन मूल्यों में आई गिरावट को दर्शाता है। बालिका पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध देश के प्रत्येक नागरिकों आगे आने की आवश्यकता है। बालिकाओं के सशक्तिकरण में हर प्रकार का सहयोग देने की जरूरत है। इस काम की शुरुआत घर से होनी चाहिए।

हमें यह सोचना चाहिए कि विकास के सोपानों पर चढ़ने के उपरान्त भी बालिकाओं के प्रति अपराध कम क्यों नहीं हो रहे हैं। लोगों के सामने तो हम बड़ी-बड़ी बातें करते हैं कि बालिका भी देश का भविष्य है लेकिन जब हम अपने अन्तर्मन में झाँकते हैं, तब अनुभव होता है कि हम सभी कहीं न कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसकी हत्या के भागी रहे हैं। यही कारण है कि आज देश में घरेलू हिंसा व भ्रूण हत्या सम्बन्धी कानून बनाने की आवश्यकता महसूस हुई।

**समस्या-समाधान हेतु सुझाव** - प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता आमिर खान के शो 'सत्यमेव जयते' में इस गंभीर समस्या को उठाकर समग्र जागरूकता अभियान चलाया है। सभी संगठन, सरकार इत्यादि इस ओर कठोर कदम उठाने हेतु प्रयत्नशील है। बालिका भ्रूण हत्या की गंभीर चुनौती से निपटने के लिए कानूनी उपायों के साथ-साथ जागरूकता अभियान भी चलाए गये है। लेकिन इसके बावजूद बालिकाओं को मिटा देने की प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लग सका है। आर्थिक विकास की दौड़ में यदि हम महिलाओं के गिरते अनुपात को नहीं रोक पाये तो विकास की गति अवरुद्ध हो जायेगी।

महिलाओं का निरन्तर घटता अनुपात हिंसा, देह-व्यापार को बढ़ावा आदि समस्याएँ इतनी जटिल है कि इन्हें केवल सरकार के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। इस दिशा में समाज के सभी वर्गों, शिक्षा संस्थाओं, स्वयंसेवी संगठनों व मीडिया जगत के साथ मिलकर सरकार का सहयोग करना होगा। 187 देशों के मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 134 वां है। महिलाओं की साक्षरता दर देश में 65.46 है, जबकि हमारे गृहराज्य राजस्थान में देश भर में न्यूनतम 52.66 है। इस स्थिति में सुधार लाने के लिए महिलाओं में शिक्षा का प्रसार व स्वास्थ्य को सुधारने की विशेष आवश्यकता है।

समस्या समाधान हेतु वैधानिक व कानूनी सुधार किये जाये, नारी शिक्षा का प्रसार, स्वरोजगार व रोजगार हेतु प्रोत्साहन, मातृत्व का मौलिक अधिकार नारी संगठनों को प्रोत्साहन एवं सहायता तथ प्रतीकों के विरुद्ध मोर्चा आदि उपायों को अपनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त महिलाएँ स्वयं अपने भीतर से हीन भावना दूर करें और अपने जन्म को सार्थक बनाने के लिए पहल करें। स्वयं नारी को ही अकेले या सामूहिक रूप से अपनी समस्याओं का हल खोजना होगा। कोई किसी को उसके अधिकार नहीं दिला सकता। अपने अधिकार स्वयं प्राप्त करने पड़ते हैं, और उनकी रक्षा करनी चाहिए।

भ्रूण हत्या की शुरुआत मां की कोख में नहीं होती, इसकी शुरुआत तो इन्सानों की सोच में होती है। इसलिए हमें लोगों की मानसिकता को बदलना होगा। सरकार ने महिलाओं के संरक्षण हेतु आत्म-सम्मान जगाने, आत्मनिर्भर बनाने और समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने की दिशा में अनेक कानूनी उपाय किए हैं। आवश्यकता है कि महिलाएँ अपने कानूनी अधिकारों व संरक्षण के उपायों को समझे व जाने। महिलाओं के लिए सुरक्षा का प्रश्न एक यक्ष प्रश्न उभर कर आता है। सही व उचित वातावरण के लिए 'अपराधों से सुरक्षा' का हक अत्यन्त आवश्यक है, ताकि नारी जाति के प्रति होने वाले घृणित अत्याचारों को रोका जा सके। पुरुषों को अपना प्रभुत्ववादी और वर्चस्ववादी स्वभाव बदलना चाहिए। माता को भी बेटा व बेटाई में अन्तर नहीं करना चाहिए। प्रायः देखने में आया है कि बेटा पैदा होने की बात सबसे पहले दादी नानी, सास ही उठाती है। इस दुष्क्र को तोड़ने से बालिका की जीने के अधिकार को बल मिलेगा। यह चेतना जागृत की जाये कि स्त्री का जन्म पुरुष के सहस्त्रों जन्मों से ज्यादा पवित्र, सार्थक और सम्पन्न होता है क्योंकि महिलाएँ ही सृष्टि की रचना करती है तथा पुरुषों को जन्म देती है।

सामाजिक बुराईयों, रीति रिवाजों, देहेज प्रथा, परम्पराओं भ्रूण हत्या से सम्बन्धित कानूनी प्रावधानों को कठोरतापूर्वक लागू करके

सख्त कार्यवाही की जानी चाहिए। इसमें दोषी व्यक्ति, डाक्टर आदि को क्षमा नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि बालिका भ्रूण हत्या एक जघन्य, अक्षम्य गम्भीर अपराध है, अतः इसके लिए वही दण्ड होना चाहिए जो मानव-वध के लिए निर्धारित है।

अन्त में बालिकाएँ भी घर का चिराग है, वे भी एक इन्सान है, जननी है जो हमारे अस्तित्व का प्रमाण है। इनकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इसलिए आज ही यह संकल्प ले और बालिका भ्रूण हत्या पर अंकुश लगाकर नन्हीं बेटियों को भी जीने का अधिकार प्रदान करें।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डा. अमर्त्य सेन व जीन डी. ओमनिकस, इंडिया इकोनोमिक्स डवलपमेन्ट एण्ड सोशल ऑपरचुनिटी, आक्सफोर्ड, न्यू दिल्ली 1991, पृ. 140-141
2. भारत की जनगणना 2001 तथा 2011
3. सेव दी गर्ल चाईल्ड प्रवर् निदेशालय चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग, स्वास्थ्य भवन, जयपुर
4. श्रीमती मंजुशर्मा, नारी शोषण और मानवाधिकार, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2008
5. सुधारानी श्रीवास्तव : भारत में महिलाओं की वैधानिक स्थिति, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स नई दिल्ली, 2006
6. सुधारानी श्रीवास्तव : भारत में मानवाधिकार की अवधारणा अजुर्न पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009
7. अज्ञा जिन्दगी, 'स्त्री अंक' मार्च, 2012
8. कुरुक्षेत्र : ग्रामीण महिला अंक वर्ष 55, अंक 5, मार्च, 2009
9. राजस्थान राज्य महिला आयोग जयपुर द्वारा जारी प्रवर्
10. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की पत्रिका, डॉ. सुनीता मिश्र, 'महिला सशक्तिकरण : मानवाधिकार की एक आवश्यकता।

## नक्सल विरोधी अभियान “सलवा जुडुम” : एक अध्ययन

दीपिका चक्रवर्ती

शोधार्थी, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

**बा**स्तर की गोंड़ी या हलवी भाषा का शब्द है- “सलवा जुडुम”, जिसका शाब्दिक अर्थ है- “शांति के लिए एकजुट होना”। जिसे छत्तीसगढ़ के बीजापुर एवं दन्तेवाड़ा जिलों में नक्सलवादियों के विरुद्ध आदिवासियों का स्वतः स्फूर्त या स्वप्रेरित आन्दोलन कहा जा सकता है, जिसे क्रमशः प्रशासन एवं सरकार का समर्थन भी प्राप्त होता है। प्रमुख कांग्रेसी नेता महेन्द्र कर्मा को इस आन्दोलन के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया जाता है। कांग्रेस की परिवर्तन रैली पर हमला और महेन्द्र कर्मा की हत्या इसी आन्दोलन के विरोध स्वरूप अंजाम दी गयी कार्यवाही है। मानवाधिकार संगठनों और सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप के बाद यह आन्दोलन समाप्त प्रायः है, तथापि सरकार एवं प्रशासन को ऐसे उपाय किये जाने की आवश्यकता है, जिससे नक्सली आतंक को समाप्त कर आदिवासियों को एक सुरक्षित जीवन मुहैया कराया जा सके।

सलवा जुडुम, जिसे जन जागरण अभियान के नाम से भी जाना जाता है, छत्तीसगढ़ के पश्चिमी बस्तर के अति संवेदनशील नक्सली क्षेत्र-बीजापुर एवं दन्तेवाड़ा जिले में नक्सलवादियों के विरुद्ध आदिवासियों एवं ग्रामीणों का स्वतः स्फूर्त आन्दोलन है। सलवा जुडुम का अर्थ है-शुद्धिकरण अभियान अर्थात् एक ऐसा अभियान, जिसके अंतर्गत उन आदिवासियों की पुनः वापसी के लिए प्रयास किया जाता है, जो माओवादी कार्यकर्ता बन चुके हैं, या उन्हें अपना समर्थन देते हैं। इस आन्दोलन के तहत हिंसा से व्रत आदिवासी ‘नक्सली भगाओ बस्तर बचाओ’ के नारे के साथ एकजुट हुए थे।

**सलवा जुडुम की उत्पत्ति** - सलवा जुडुम के आरंभ से पूर्व इन क्षेत्रों की पारिस्थितियों के विरलेषण से ज्ञात होता है कि, आर्थिक रूप से सम्पन्न इन क्षेत्रों की पिछड़ी व निर्धन, ग्रामीण जनजातीय समुदायों का व्यापारी वर्ग एवं वन्य अधिकारियों द्वारा काफी शोष किया गया। भ्रष्ट प्रशासन एवं पुलिसिया व्यवहार से तंग इन ग्रामीणों का समर्थन नक्सलवादियों को महत्वपूर्ण रूप से प्राप्त हुआ, जिससे इन क्षेत्रों में नक्सलवादियों की मजबूत पकड़ बनती गयी और धीरे-धीरे घने जंगलों का क्षेत्र पूरी तरह नक्सलवादियों के शिकंजे में आ गया।

कालान्तर में इन नक्सलियों द्वारा जनजातीय जीवन में लगातार हस्तक्षेप किया जाने लगा, स्थानीय जनता, न केवल नक्सलियों द्वारा की जाने वाली हिंसात्मक घटनाओं से पीड़ित होती रही वरन् उनके दिन-प्रतिदिन के आम जीवन में बढ़ते हस्तक्षेप से जनजातीय समाज, रीति-रिवाजों, संस्कृति एवं आर्थिक व्यवस्था पर गहरा आघात पहुंचा, सामाजिक संस्था “घोटुल” बंद कर दिए गए, साथ ही इनकी धार्मिक आस्थाओं पर भी चोट की गयी।

उपर्युक्त सभी परिस्थितियों ने ग्रामीणों में रोष उत्पन्न किया और उन सभी के द्वारा संयुक्त रूप से जो विरोध का स्वर उभरा, उसे ही सलवा जुडुम के नाम से जाना जाता है, जिसे प्रारंभ करने का श्रेय कांग्रेसी नेता श्री महेन्द्र कर्मा को जाता है, जिन्होंने जन जागरण अभियान को अपना नेतृत्व प्रदान किया। सलवा जुडुम के रूप में उदित विरोध के इन स्वरो को नेताओं, प्रशासन एवं पुलिस बलों का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ और शीघ्र ही ग्रामीणों का स्वप्रेरित अभियान, पूर्णतः प्रशासन प्रेरित अभियान में परिवर्तित हो गया।

उत्पत्ति के कारण - सलवा जुद्ध की उत्पत्ति के विभिन्न कारणों का विश्लेषण निम्न बिंदुओं के आधार पर किया जा सकता है-

- नक्सलवादियों द्वारा सम्पूर्ण जनजातीय समाज में निरंतर हस्तक्षेप किए जाने से स्थानीय जनता में असंतोष की प्रवृत्ति बढ़ी तथा नक्सलियों द्वारा जनजातियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक आस्थाओं पर प्रहार किये जाने से स्थानीय जन इनके विरुद्ध एकजुट हुए।
- ग्रामों में जन अदालतों का आयोजन कर नक्सलियों द्वारा कई बार सरपंच एवं ग्राम प्रमुखों को सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित कर उन्हें मृत्यु दण्ड दे दिया गया, ताकि ग्रामीणों में नक्सलवाद के प्रति मानसिक भय उत्पन्न किया जा सके। इसके साथ ही धार्मिक आस्थाओं का प्रतीक समझे जाने वाले पुजारियों को भी निशाना बनाकर मार दिया गया।
- अपनी जीविकोपार्जन हेतु स्थानीय जनता पूर्णतः कृषि एवं वनों पर आश्रित थी, जबकि नक्सलवादी अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ग्रामीणों के कृषि उत्पादों, पशुधन एवं जीवनोपयोगी अन्य सामग्रियों का कुछ अंश वसूला जाता था, इससे ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति को भी गहरा आघात पहुंचा।
- नक्सलियों द्वारा पुनरोत्थान एवं विकासोन्मुख कार्यों पर न केवल रोक लगा दी गयी थी, बल्कि विकास अनुदानों की एक बड़ी राशि भी वे स्वयं आत्मसात् कर लेते थे। उनके क्षेत्राधिकार में सड़क, स्कूल, हेण्डपम्प, बिजली के खम्भे आदि कोई भी निर्माण कार्य संभव नहीं था।
- सुरक्षा बलों द्वारा किसी प्रकार के आक्रमण के समय, इन ग्रामीणों का उपयोग ढाल के रूप में नक्सलवादी किया करते थे, साथ ही प्रत्येक परिवार के न्यूनतम एक सदस्य को नक्सलवादी गतिविधियों में सम्मिलित होना अनिवार्य कर दिया गया था।
- इस क्षेत्र में वन्य उत्पाद ही ग्रामीणों की आजीविका का प्रमुख साधन है, जिसमें तेन्दू पत्ता से होने वाली आय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु वर्ष 2004-05 में नक्सलियों ने ग्रामीणों के तेन्दू पत्ता संग्रहण पर रोक लगा दी, ताकि उनके द्वारा अधिक मूल्य एवं लाभ प्राप्त किया जा सके। इन कार्यवाहियों ने ग्रामीणों को गहरे रूप से आहत किया और वे संगठित रूप में नक्सलवाद के विरुद्ध खड़े हुए जिसकी अभिव्यक्ति सलवा जुद्ध के रूप में हुई।

**सलवा जुद्ध के कार्यक्रम -** जून 2005 से सलवा जुद्ध कार्यक्रमों द्वारा निरंतर बैठकों, रैलियों एवं जुलूसों का आयोजन कर ग्रामीणों को नक्सलवाद के विरुद्ध जागृत करने का प्रयास किया जाता रहा है। प्रारंभ में नक्सलियों द्वारा इस अभियान की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु जैसे-जैसे इनकी बैठकों का दौर बढ़ता गया और अनेक 'संघम' (ग्राम स्तरीय नक्सलवादी संगठन) सदस्यों द्वारा आत्म समर्पण की घटनाएँ सामनी आयीं, नक्सलियों का ध्यान

इस ओर आकर्षित हुआ, फलतः सलवा जुद्ध बैठकों पर हमले हुए और इसके नेताओं व समर्थकों की हत्याएँ भी की गयीं।

सलवा जुद्ध आन्दोलन को बढ़ावा देने एवं ग्रामीणों एवं स्थानीय जनता की सुरक्षा हेतु राज्य सरकार द्वारा स्थानीय युवाओं में से ही 'विशेष पुलिस अधिकारी की नियुक्ति की गयी।' इनकी नियुक्ति इण्डियन पुलिस एक्ट 1861 के सेक्शन - 17 एवं छत्तीसगढ़ पुलिस एक्ट 2007 के सेक्शन-9 के अन्तर्गत सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के दृष्टिकोण से किया गया था। इन एस पी ओ में अधिकतर पूर्व 'संघम एवं दलम' कार्यकर्ता थे जिन्हें नक्सलियों द्वारा अपनायी जाने वाली तकनीकों का पूर्व अनुभव था, और जो आत्म समर्पण की प्रक्रिया के तहत अथवा पुलिस द्वारा जबरदस्ती जन जागरण अभियान में शामिल हुए थे। आधिकारिक रिपोर्टों के अनुसार जनवरी 2007 तक छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा 4048 विशेष पुलिस अधिकारियों की भर्ती की गयी, जिसके पीछे सरकार का उद्देश्य नक्सलियों के विरुद्ध एक समानान्तर अर्द्धसैनिक बल खड़ा करना था, जिन्हें शास्त्र प्रशिक्षण उपलब्ध कराया गया हो, और जो नक्सलियों द्वारा अपनायी जाने वाली छापामार गुमिह्ला शैली में पारंगत हों।

नक्सलियों एवं एस पी ओ व सुरक्षा बलों के बीच निरंतर बढ़ती हिंसक गतिविधियों के बीच अपने जीवन की रक्षा के लिए कई ग्रामीण पुलिस स्टेशनों के आसपास सुरक्षा बलों के राहत शिविरों में जाकर रहने लगे, जबकि अनेक ग्रामीणों को जबरदस्ती इन राहत शिविरों में शामिल होने के लिए दबाव डाला गया, फलतः बीजापुर और दन्तेवाड़ा जिले के कई गाँव पूर्णतः खाली हो गए, लगभग 60,000 ग्रामीण अपने आवास स्थानों को छोड़कर इन सुरक्षा कैम्पों में शरणार्थी के रूप में जीवन यापन करने पर मजबूर हो गए। कई स्कूल पूरी तरह सुरक्षा बलों के कैम्प में परिवर्तित हो गए। जो लोग इन शिविरों अथवा जन जागरण अभियान में शामिल नहीं हुए, उन्हें नक्सलियों का समर्थक मानते हुए उनके साथ क्रूर व्यवहार दिए गए, इनके घर जला दिए गए और शारीरिक रूप से अनेक प्रताड़नाएँ भी दी गईं।

**सलवा जुद्ध के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ -** छत्तीसगढ़ के बीजापुर एवं दन्तेवाड़ा जिले में पुलिस बल एवं एस पी ओ द्वारा ग्रामीणों पर निरंतर दबाव डाला जाता रहा था, कि वे सलवा जुद्ध को अपना समर्थन दें। सलवा जुद्ध को अपना समर्थन देने की स्थिति में एस पी ओ द्वारा ग्रामीणों के आवासों को जलाने के साथ-साथ बलात्कार एवं हत्या जैसे आपराधिक मामले भी सामने आये हैं। इन क्षेत्रों में होने वाली हिंसक गतिविधियों एवं अमानवीय घटनाओं तथा सलवा जुद्ध व एस पी ओ द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियों के विरुद्ध अनेक गैर-सरकारी संगठन एवं मानव अधिकारों के लिए कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं द्वारा आवाज उठायी जाती रही है। इसी संदर्भ में मई 2007 में नंदिनी सुन्दर एवं अन्य द्वारा एक जनहित याचिका सर्वोच्च न्यायालय में दायर की गयी। बाद के मुद्दे इस प्रकार रहे कि - 'कोया कमाण्डो या तथाकथित एस पी ओ की नियुक्ति तर्कसंगत नहीं है, और अन्य तरीकों से यह मानव अधिकारों का हनन भी करता

है, साथ ही सलवा जुद्धम कैम्प में शरणार्थियों की खराब दशा की ओर ध्यान दिये जाने का आग्रह भी किया गया था।

याचिका की सुनवाई जस्टिस बी. सुदर्शन रेड्डी तथा एस.एम. निज्जर की खण्डपीठ द्वारा करते हुए राज्य सरकार से पूछा गया कि कोया कमाण्डो क्या है? इनकी नियुक्ति किस प्रकार की गयी एवं उन्हें शस्त्र व प्रशिक्षण किस प्रकार दिये गये? 5 जुलाई 2011 को सर्वोच्च न्यायालय ने याचिका की सुनवाई के दौरान कहा कि सलवा जुद्धम के लिए एस पी ओ के तौर पर आदिवासियों की नियुक्ति असंवैधानिक है, और राज्य सरकार व केन्द्र ऐसा कतई न करें। न्यायालय ने ऐसे एस पी ओ से हथियार वापस लेने के भी निर्देश सरकार को दिए। खण्डपीठ ने कहा कि नक्सलियों से लोहा लेने के लिए आदिवासियों को दिया जा रहा प्रशिक्षण और पात्रता की शर्तें यथा शैक्षणिक योग्यता आदि संवैधानिक प्रावधानों के खिलाफ है। साथ ही आदिवासियों को हथियार उपलब्ध कराने से खतरनाक स्थिति उत्पन्न हो सकती है, मुख्यतः उस समय जब ये एस पी ओ राज्य के विरुद्ध ही संघर्ष कर दे।

**आन्दोलन की समाप्ति** - सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किए जाने के पश्चात् सलवा जुद्धम निरंतर शिथिल होता जा रहा है। वर्तमान में सलवा जुद्धम के राहत शिविरों से लोग अपने गाँवों की ओर जाने लगे हैं, और इन कैम्पों में मुख्यतः एस पी ओ, सलवा जुद्धम के नेता एवं कार्यकर्ता तथा इनके परिवार ही रह रहे हैं।

इन्स्टीट्यूट ऑफ कॉन्सिल्ट मैनेजमेंट के कार्यकारी निदेशक डॉ. अजय साहनी का कहना है- "सलवा जुद्धम अभियान राज्य द्वारा अपनी तमाम जिम्मेदारियों से मुँह मोड़ने जैसा था। गरीब अनपढ़ और सुरक्षा रहित नागरिकों को शस्त्र देकर मोर्चे पर सबसे आगे नहीं झोंक दिया जाता, और खुद बेहतर शस्त्रों, बेहतर प्रशिक्षण और संविधान के तहत मिली जिम्मेदारी के साथ पीछे नहीं खड़ा हुआ जाता। मैं लोगों को संगठित करने और एसपीओ बनाने का विरोध नहीं करता, लेकिन ये सहायक बल होता है, दूसरी पंक्ति का बल, ये आपका अग्रिम बल नहीं हो सकता। राज्य के दुश्मनों से लड़ना आम लोगों का नहीं बल्कि राज्य और उसकी एजेन्सियों का काम है। अगर आम नागरिकों को आगे करके कोई फायदा पहुंचता भी है, तो भी यह गलत है।"

वनवासी इलाकों में सलवा जुद्धम को प्रारम्भिक दौर से ही नक्सलवादियों ने अपने लोकप्रिय आधार के लिए खतरे के तौर पर

देखा और इस आन्दोलन के प्रणेता महेन्द्र कर्मा को अपने प्रमुख शत्रु के रूप में। 25 मई को छत्तीसगढ़ के दरभा क्षेत्र में कांग्रेस की परिवर्तन रैली पर हमला और महेन्द्र कर्मा की हत्या सलवा जुद्धम का बदला लेने के उद्देश्य से ही किया गया।

स्पष्टतः नक्सल विरोधी अभियानों में जनसामान्य या आदिवासियों के प्रयोग अथवा उन्हें प्रथम पंक्ति के लड़ाकू के तौर पर खड़ा किये जाने की कार्यवाहियों को उचित नहीं दहराया जा सकता, तथापि राज्य सरकारों को राज्य सुरक्षा बलों के माध्यम से इन पर नियन्त्रण स्थापित किए जाने के प्रयास अवश्य किए जाने चाहिए। नक्सलवादियों द्वारा जिन हिंसक गतिविधियों को अंजाम दिया जाता है, उन्हें किसी भी आधार पर उचित नहीं माना जा सकता, इसलिए आवश्यकता इस बात की है, कि इन गतिविधियों पर अंकुश लगाया जाए, ताकि साधारण नागरिक सुरक्षित एवं सामान्य जीवन-यापन कर सके।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. वीरन्द्र सिंह बघेल, नक्सलवाद : समस्या और समाधान, स्वास्तिक प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पेज 109
2. डॉ. वीरन्द्र सिंह बघेल, नक्सलवाद : समस्या और समाधान, स्वास्तिक प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पेज 109
3. Work Proposal to make the Jan Jagran Abhiyan successful by District Collector - Dante Wada (C.G.) 2005
4. Nandeni Sundar, "Pleading for Justice", Paper Presentation on Seminar, www.india-seminar.com/2010
5. Nandini Sundar, "Pleading for Justice", Paper Presentation on Seminar, www.india-seminar.com/2010
6. Nandini Sundar ; "Bastar, Mooism and Salwa Judum ; Economic and Political Weekly; 22 July 2006
7. नईदुनिया : 'असंवैधानिक है एस पी ओ', 6 जुलाई 2011
8. दैनिक भास्कर : कोया कमाण्डो, सलवा जुद्धम, असंवैधानिक, 6 जुलाई 2011
9. पात्राचजन्य; 9 जून 2013,

## सतत् विकास और पर्यावरण संरक्षण

डॉ. प्रेमलता परसोया

व्याख्याता, राजकीय महाविद्यालय, कोटा



shodhshree@gmail.com

**आ**ज जो है, जैसा है, उससे और अधिक अच्छा करने की प्रवृत्ति मानव की खास विशेषता है इसी के तहत वह जीवन की गुणवत्ता और विकास को प्राप्त करता है। इसी तरह मानव ने जीवन के सभी क्षेत्रों यथा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदि में बहुत विकास किया है। स्वाभाविक ही विकास से मानव का जीवन सरल और सुन्दर होता गया तो विकास की अन्धी दौड़ में वह दौड़ने लगा तथा विकास के साइड इफेक्ट्स को भी वह नजर अन्दाज करता रहा। जब विकास के साथ प्रकृति और पर्यावरण का बहुत अधिक नुकसान हुआ तथा प्राकृतिक संसाधनों में अत्यधिक कमी आने लगी तब यह समझ में आया कि विकास अल्पकालिक नहीं अपितु सतत् होना चाहिये। तब सतत् विकास की अवधारणा अस्तित्व में आई। सर्वप्रथम अब यह प्रश्न उठता है कि सतत् विकास क्या है ?

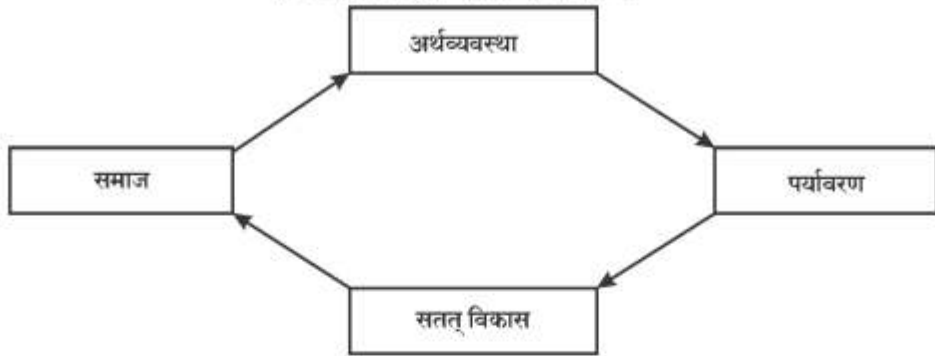
मेरी दृष्टि में सतत् विकास को इस तरह परिभाषित किया जा सकता है कि जो विकास हो रहा है वह स्थायी हो अर्थात् विकास आज की हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करता हो परन्तु भविष्य की आवश्यकताओं के प्रति भी आँखें मूँदें हुए नहीं हो। आज हमारे पास जो प्रकृति प्रदत्त संसाधन हैं जैसे जल, वन, नदी, पहाड़, खनिज सम्पदा आदि इन पर केवल हमारा ही अधिकार नहीं है अपितु यह हमें हमारी अगली पीढ़ी से उधार मिला है जिसका संरक्षण कर उन्हें वापस लौटाना है।

1970 - 80 के दशक में विश्व स्तर पर सतत् विकास का मुद्दा सामने आया तथा प्रगति एवं पर्यावरण में सामंजस्य की आवश्यकता पर बल दिया गया। सतत् विकास का एक अवधारणा के रूप में विकास सबसे पहले 1987 में ब्रंटलैण्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के साथ हुआ। ब्रंटलैण्ड आयोग ने सतत् विकास की व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की जिसकी दो मुख्य धारणाएँ थी - पहली, आवश्यकताएँ खासकर विश्व के निर्धन लोगों की मूलभूत आवश्यकताएँ, जिन्हें अभिभावी, प्राथमिकता देने की जरूरत है, तथा दूसरी, 'सीमाओं की अवधारणा' अर्थात् पर्यावरण की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता की सीमाएँ जो प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक संगठनों द्वारा लगाई गई हैं। ब्रंटलैण्ड आयोग ने कहा कि सतत् विकास सामंजस्य में स्थायित्व लाना नहीं है, अपितु यह एक परिवर्तन की प्रक्रिया है जिसमें संसाधनों का दोहन, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास की स्थिति तथा संस्थात्मक परिवर्तनों को वर्तमान के साथ - साथ भावी समय की आवश्यकताओं के भी अनुकूल बनाया जा सके। यह आर्थिक विकास में उन्नति की होड़ के प्रति विश्व को सचेत करती है ताकि दीर्घकालीन विकास तो हो परन्तु प्राकृतिक संसाधनों की समाप्ति अथवा पर्यावरण को क्षति पहुँचाये बिना।

सतत् विकास के छः लक्ष्य/उद्देश्य प्रमुखतः माने जाते हैं -

- फलता - फूलता जीवन और जीवनचर्या
- खाद्य सुरक्षा
- जल सुरक्षा
- स्वच्छ ऊर्जा

सतत् विकास के प्रमुखतया तीन तत्व होते हैं जिनमें आपसी सामंजस्य की आवश्यकता होती है, जिन्हें इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है -



- स्वस्थ और उत्पादक पारिस्थितिकी
- सुशासन।

सतत् विकास एक सोचने का मार्ग है जिससे हम वर्तमान तथा भविष्य की पीढ़ी की सुरक्षा कर सकते हैं। विकास के अधिकार का अर्थ है आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दशाओं में सुधार और गुणवत्ता, लाना, जिससे विश्व स्तर पर जीवन में गुणवत्ता आ सके। विश्वस्तरीय जीवन की गुणवत्ता से तात्पर्य है उन परिवर्तनों का क्रियान्वयन, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्मानपूर्ण जीवन सुरक्षित हो सके तथा साथ ही उन्हें उनके मानवाधिकार भी महसूस हों।

विकास की अन्धी दौड़ में हम तीव्र गति से औद्योगीकरण करते गये तथा इसके लिए अन्धाधुन्ध पेड़ों की कटाई कर वनों का नाश भी करते रहे। साथ ही उद्योगों के अपशिष्ट पदार्थों को नदियों, तालाबों, समुद्रों में डालते गये अर्थात् वायु, ध्वनि और जल, तीनों प्रकार का प्रदूषण निरन्तर बढ़ता गया। 1970-80 के दशक में जब 'ग्लोबल वार्मिंग' जैसी स्थिति हमारे सामने आई तब हमारी आँखें खुली तथा विश्व स्तर पर एकदम पर्यावरण के प्रति जागरूकता उत्पन्न हुई। धरती का तापमान एकदम से बढ़ा तथा बड़े-बड़े बर्फ के ग्लेशियर पिघलने लगे, धरती के अन्दर पानी बहुत नीचे जाने लगा तथा अनेकानेक तरह की बीमारियों ने जब मानव को जकड़ा तब पर्यावरण के प्रति चिन्ता जाग्रत हुई। वन और जंगल मानव ने ऊँची-ऊँची बिल्डिंगों के लिए खत्म कर दिये तथा कंकरीट और सीमेण्ट के जंगल बनाकर खड़े कर दिये। सतत् विकास के महत्वपूर्ण तीन आधारों, अर्थव्यवस्था, समाज और पर्यावरण में, हमने सिर्फ अर्थव्यवस्था के विकास, आर्थिक संवृद्धि पर ध्यान दिया जिससे समाज का सन्तुलन बिगड़ा, अमीरी - गरीबी के बीच खाई और अधिक चीड़ी हो गई, सामाजिक समानता स्थापित नहीं हो पाई तथा पर्यावरण का संरक्षण भी नहीं हुआ अपितु लगातार क्षरण होता रहा। तब यह संकल्पना अस्तित्व में आई कि विकास तो हो परन्तु उसी के साथ साथ पर्यावरण का संरक्षण भी उतनी ही मात्रा में आवश्यक है तभी यह विकास अगली पीढ़ी तक बचेगा।

पर्यावरण संरक्षण के बिना विकास को प्राप्त नहीं किया जा सकता। पर्यावरण की सुरक्षा सतत् विकास का एक भाग है जिसके बिना

विकास को सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता। पर्यावरण हमारे जीवन का आधार है। इसमें वे सभी चीजें शामिल हैं जिन पर हम अपने जीवन के लिए आश्रित हैं जैसे वायु, जल, धातु, मृदा, चट्टान तथा अन्य जीव। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि हमारे पर्यावरण की दशा हमारे कार्यों से प्रभावित होती है और यह हमारे हाथ में है कि हम चाहें तो इसकी रक्षा करें अथवा उसे क्षति पहुँचायें।

सतत् विकास की चुनौतियों पर भी यहाँ दृष्टि डालना उचित होगा जनसंख्या वृद्धि इसकी सबसे बड़ी चुनौती है। 21 वीं सदी के प्रारम्भ तक विश्व की जनसंख्या 6 अरब से भी अधिक हो चुकी है। प्राकृतिक संसाधन की तुलना में जनसंख्या अधिक बढ़ेगी तो स्वाभाविक ही संसाधनों का अन्धाधुन्ध दोहन हो रहा है और सब कल के प्रति आँखें मूँदें हुए हैं। पीने के पानी की कमी, खाद्य उत्पादन (बिक्री हेतु) वाली भूमि की कमी बड़ी चुनौती बनकर सामने आ रही है। धरती का 2/3 भाग जल है फिर भी पीने के पानी की कमी अजीब सी बात है। गरीबी एक अन्य प्रमुख चुनौती बनी हुई है। विश्व की 25 प्रतिशत जनसंख्या प्रतिदिन एक अमेरिकी डॉलर से भी कम में जीवन बसर करती है। असमानता सतत् विकास की प्रमुख बाधा बनी हुई है। बहुत बड़ी संख्या में लोग कुपोषण के शिकार हैं। बेरोजगारी और बीमारियों की भरमार भी सतत् विकास की बाधा बनी हुई है। आज अत्यधिक उत्पादन के लिए अन्धा धुन्ध कीटनाशकों का प्रयोग हो रहा है जो कि मानवों के लिए नित नई बीमारियाँ भेंट कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पर्यावरणविद् श्री सुन्दर लाल बहुगुणा ने कहा था कि यह निश्चित करना होगा कि विकास का अर्थ समृद्धि या विकास का अर्थ शान्ति, प्रगति और सुखी हो।

पर्यावरण और अर्थव्यवस्था के साथ-साथ समानता के विचार का एकीकरण सतत् विकास की अवधारणा का मौलिक आधार है। इसका अर्थ सिर्फ पर्यावरण की स्वच्छता ही नहीं बल्कि एक स्वस्थ और मजबूत अर्थव्यवस्था की माँग है। इसके लिए संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल की आवश्यकता है एवं आर्थिक विकास की अन्धी प्रतियोगिता को रोककर स्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। सतत् विकास सभ्यता तथा मानव क्रियाओं को आकार देने का साधन माना जाता है ताकि समाज, उसमें रहने वाले

लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को प्राप्त करने योग्य बन सकें, साथ ही जैविक भिन्नताओं तथा प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा करते हुए वर्तमान में अपनी अधिक से अधिक क्षमता का परिचय दे सकें।

सतत् विकास के संदर्भ में पर्यावरण संरक्षण के प्रति विश्व स्तर पर चिन्ता जाग्रत हुई तथा विश्व स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में कई सम्मिलित प्रयास भी किये गये हैं जिनका संक्षिप्त में यहाँ विवेचन करना आवश्यक होगा। इन संदर्भ का प्रथम वैश्विक प्रयत्न 1972 में स्टॉकहोम में 'यूनाइटेड नेशंस कॉन्फ्रेंस ऑन ह्यूमन एनवायर्नमेंट सम्मेलन (5.16 जून 1972) सम्पन्न हुआ था। इसमें तीन महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये - पहला, स्टॉकहोम घोषणा पत्र जारी हुआ, दूसरा, स्टॉकहोम कार्ययोजना के तहत 109 अनुशासणें जारी हुईं, तीसरा, 5 प्रस्ताव पारित हुए जिनमें, परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय डाटा बैंक की स्थापना, विकास और पर्यावरण से सम्बन्धित कार्य, एक पर्यावरण कोष का निर्माण, संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू.एन.ई.पी.) की स्थापना प्रमुख थे।

विश्व स्तर पर सतत् विकास की कड़ी में 3-14 जून 1992 में ब्राजील के रियो डि जेनेरियो शहर में 'संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण और विकास सम्मेलन' हुआ। इसमें 100 देशों के शासन प्रमुखों/राष्ट्राध्यक्षों ने भाग लिया, 178 देशों और लगभग 17,000 प्रति भागियों ने भाग लिया। इसमें पर्यावरण और विकास पर रियो घोषणा पत्र, एजेण्डा - 21 जारी हुआ। इसमें उत्तर और दक्षिण की आय असमानता पर भी ध्यान दिया गया। कनाडा के पर्यावरण मंत्री ने कहा कि उत्तर और दक्षिण में आय की असमानता 20 से 60 फीसदी तक बढ़ी है। उत्तर, जिसमें विश्व जनसंख्या का 25 प्रतिशत रहता है। विश्व की कुल ऊर्जा का 70 प्रतिशत उपभोग करता है, 75 प्रतिशत मेटल्स का और 80 प्रतिशत लकड़ी का उपभोग करता है। भारतीय पर्यावरण मंत्री श्रीमती मेनका गाँधी ने कहा कि पूर्व के 125 बच्चे जितना उपभोग करते हैं उतना पश्चिम का एक ही बच्चा करता है। उसने यह भी कहा कि यह सारा जो पर्यावरण क्षरण हो रहा है वह पश्चिम के उपभोग के कारण ही हो रहा है।

इसी प्रकार इस सम्मेलन में भूमि, वायु, जल की रक्षा के विकल्पों पर भी विचार किया गया तथा निर्धनता, अत्यधिक उपभोग स्वास्थ्य एवं शिक्षा जैसे विषय भी विचाराधीन रहे। इसमें इस बात पर भी बल दिया गया कि सतत् विकास को प्राप्त करने में किसी एक व्यक्ति, राष्ट्र तथा संगठन की भूमिका नहीं हो सकती अपितु इसमें सरकारें, गैर - सरकारी संगठन, व्यापार, मजदूर संघ वैज्ञानिक, पर्यावरणविद, युवा, ग्रामीण, महिलाएँ आदि सभी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इसमें यह विचार किया गया कि आर्थिक उन्नति तो हो लेकिन उसकी एज में प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था एवं ढाँचे को भी नुकसान नहीं पहुंचे।

सतत् विकास पर एक शिखर सम्मेलन 26 अगस्त से 4 सितम्बर 2002 को जोहान्सबर्ग में आयोजित हुआ, जिसमें 191 राष्ट्रों के सरकारी, गैर - सरकारी, निजी संगठनों, सभ्य समाज, शैक्षणिक जगत तथा वैज्ञानिक वर्ग से सम्बन्धित लगभग 21,000 लोगों ने भाग लिया। इसमें पूर्व सम्मेलन 10 वर्ष की कार्य प्रगति की समीक्षा तथा मूल्यांकन किया गया। इसी प्रकार रियो सम्मेलन के दो दशक

शोध श्री / जनवरी - मार्च 2014

बाद 13-22 जून 2012 रियो डि जेनेरियो (ब्राजील) में सतत् विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन हुआ जिसमें संयुक्त राष्ट्र के 191 सदस्य, 97 शासनाध्यक्ष/शासनप्रमुखों सहित लगभग 44000 प्रतिभागी शामिल हुए। आज वास्तविकता ये है कि पश्चिमी, विकसित राष्ट्रों ने विकास के प्रत्येक पहलू को छू लिया है, उनका औद्योगिकरण भी पूर्णतः हो चुका है तथा हानिकारक गैसों का विसर्जन करके तो ही सर्वाधिक पर्यावरण को नुकसान पहुँचा रहे परन्तु अपनी जिम्मेदारी से मुकरकर विकासशील राष्ट्रों को बराबरी का दोषी साबित करने में लगे रहते हैं इसलिए इन सम्मेलनों का वास्तविक परिणाम निकलकर नहीं आ पा रहा है। विकासशील राष्ट्रों अर्थात् एशिया अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों ने अभी विकास का सफर शुरू किया है और कई प्रकार के प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ रहा है जबकि विकसित राष्ट्रों ने अधिकतम संसाधनों का उपभोग कर सन्तुष्टि के शिखर को छू लिया है परन्तु विकासशील राष्ट्रों के प्रति उदारतापूर्ण रवैया आज भी नहीं अपना रहे हैं।

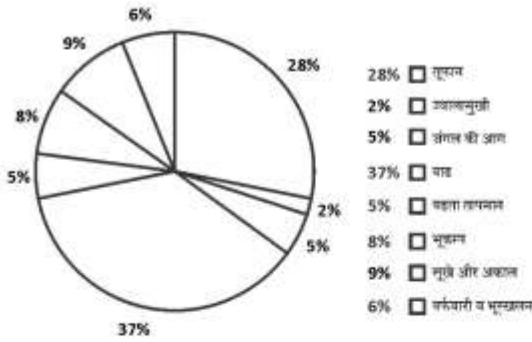
विश्व स्तर पर पर्यावरण क्षरण का बहुत असर दिखाई दे रहा है। ग्रीन हाउस प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा है क्योंकि कार्बनडाई आक्साइड गैस की मात्रा बढ़ती जा रही है जिसका कारण है बढ़ती जनसंख्या, औद्योगिकरण, यातायात के साधनों में बेतहाशा वृद्धि, पेड़ों की कटाई आदि। पौधे ही जीव वैज्ञानिक तरीके से कार्बनडाई आक्साइड को सोखने की क्षमता रखते हैं और आज भौतिक विकास के कारण वह कटते जा रहे हैं तो ग्रीन हाउस प्रभाव में वृद्धि हो रही है तथा सारा जलवायु ही नकारात्मक रूप से परिवर्तित हो रहा है। पृथ्वी पर पर्वतीय ग्लेशियर पिघल रहे हैं। अन्टार्कटिका में हिम परतें टूटकर बिखर रही हैं। समुद्री जल स्तर बढ़ रहा है तथा समुद्री तापमान में बढ़ोतरी जारी है। कार्बनडाईआक्साइड के उत्सर्जन की जिम्मेदारी विकसित राष्ट्रों की ही अधिक है फॉसिल फ्यूल व औद्योगिक प्रक्रिया से CO<sub>2</sub> उत्सर्जन 2008 के अनुसार निम्न तालिका से समझा जा सकता है :-

क्र.सं.	देश	कार्बन उत्सर्जन प्रतिशत
1.	चीन	23
2.	अमेरिका	19
3.	यूरोपीय समुदाय*	13
4.	रूसी संघ	6
5.	भारत	6
6.	जापान	4
7.	कनाडा	2
8.	अन्य	28

\* (लाटविया, एस्टोनिया, लिथुआनिया छोड़कर)

इसके बावजूद 1997 में जब क्योटो में लगभग 160 देशों के प्रतिनिधियों का जब सम्मेलन हुआ तब 2012 तक सभी देशों को CO<sub>2</sub> का स्तर 1990 के स्तर से 5 प्रतिशत घटाना था परन्तु अमेरिका ने अपने आपको इसी सन्धि से पृथक कर लिया जबकि विश्व में CO<sub>2</sub> का सर्वाधिक उत्सर्जन वही करता है। जलवायु

परिवर्तन से प्राकृतिक आपदाओं का कहर भी बढ़ता रहा है। 1993 से 2002 तक प्राकृतिक आपदाओं के वैश्विक वितरण को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है :-



(स्रोत : राजस्थान पत्रिका इयर बुक, 2009)

उक्त प्राकृतिक आपदाओं का प्रमुख कारण पर्यावरण का असन्तुलित होना ही है और मानवीय गतिविधियाँ इसकी जिम्मेदार हैं। ग्लोबल वार्मिंग के लिए भी 62% CO<sub>2</sub> ही जिम्मेदार है। पृथ्वी का सतही औसत तापमान 0.6° C बढ़ चुका है और 2050 तक 1.50° - 4.5° तक बढ़ने की संभावना और है।

भारत के संदर्भ में देखें तो सर्वविदित है कि भारत विश्व की चुनिन्दा बढ़ती उभरती अर्थव्यवस्थाओं में शुमार रहता है तथा विश्व पटल पर अपना महत्वपूर्ण स्थान स्थान रखता है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारत चीन के बाद दूसरे स्थान पर है परन्तु अधिसंख्या गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा का निम्न स्तर, कुपोषण, आर्थिक विषमता के दश से ग्रसित है। भारतीय अर्थव्यवस्था का भले ही विश्व स्तर पर गुणगान हो और 7.8% की दर से हाल के वर्षों में हमने प्रगति की हो, परन्तु आज भी अधिसंख्य लोग अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के आधार पर अति अल्प आय पर अपना जीवन बसर कर रहे हैं। आज भी बहुत सारी जनसंख्या को दो वक्त भरपेट भोजन भी नहीं मिल पा रहा है और गरीबी तथा आर्थिक असमानता सतत विकास की सबसे बड़ी बाधा है। शिक्षा की कमी के कारण पर्यावरण व अन्य मुद्दों पर जागरूकता का अभाव है। आर्थिक विकास की दौड़ में (पश्चिम का अन्धानुकरण) भागने का प्रयास किया परन्तु पर्यावरण संरक्षण के साथ आर्थिक विकास का तालमेल स्थापित नहीं कर पाये।

कभी औद्योगिकरण के नाम पर तो कभी सड़क विकास के नाम पर हम निर्ममता से पेड़ों की कटाई करते जा रहे हैं। आज हमारी सिर्फ और सिर्फ यह फितरत होती जा रही है कि किस प्रकार अधिकतम लाभ और समृद्धि को प्राप्त किया जाय। भारत के संदर्भ में एक उदाहरण कीटनाशकों के प्रयोग पर गौर किया जाय तो भयावह स्थितियाँ प्रतीत होती हैं। भारत के खास राज्यों में कीटनाशकों की खपत इस प्रकार है :-

पंजाब	उत्तर प्रदेश	हरियाणा	पश्चिम बंगाल	महाराष्ट्र	गुजरात	आंध्रप्रदेश	राजस्थान	मध्यप्रदेश	छत्तीसगढ़
6900	6855	4520	4000	3030	2900	2133	1628	749	486

(स्रोत - 5 मई 2013 का राजस्थान पत्रिका का सण्डे जैकेट) (राज्यवार मीट्रिक टन)

भारत दुनिया का चौथा सबसे बड़ा कीटनाशक और कृषि रसायन उत्पादक देश है। पहले तीन उत्पादक देश चीन, जापान और अमेरिका हैं। कैंसर और मौतों के मामले में भी यही चार देश दुनिया के शीर्ष देशों में हैं। भारत की कीटनाशक उत्पादन क्षमता 85000 मीट्रिक टन है जिसमें खपत 39000 मीट्रिक टन है शेष निर्यात किया जाता है वर्ष 2011-12 में भारत में कीटनाशकों का 9098 करोड़ रूपयों का निर्यात किया तथा 13749 करोड़ रूपयों का आयात किया। इसको परिणामस्वरूप कैंसर नामक घातक जानलेवा बीमारी भारत और विश्व में फैल रही है। इस बीमारी का सबसे प्रमुख कारण खान - पान तथा कीटनाशकों का फसल में प्रयोग ही है परन्तु अधिक व सुरक्षित उत्पादन की चाह में हम निर्बाध इनका प्रयोग करते जा रहे हैं तथा जैविक खेती को तो हम भूलते ही जा रहे हैं।

आर्थिक विकास के साथ भारत में औद्योगिकरण भी बढ़ा है तथा आवागमन के साधनों में भी अत्यधिक वृद्धि हो रही है जिससे वायु प्रदूषण तथा उद्योगों के अपशिष्ट से जल प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन अधिक हो रहा है। अशिक्षा के कारण जनसंख्या वृद्धि हो रही है अर्थात् भारत में भी पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता का अभाव नजर आता है तथा जहां कुछ लोगों में जागरूकता है तो वो अपने भौतिक स्वार्थों की खातिर पर्यावरण को नुकसान पहुंचाते हैं। ग्लोबल वार्मिंग का प्रभाव भी भारत पर पड़ रहा है। जैसे दार्जिलिंग का तापमान काफी अधिक बढ़ गया है, पिण्डरी तथा गंगोत्री ग्लेशियर भी तीव्र गति से पिघलते जा रहे हैं तथा भारत का समुद्र का स्तर भी उंचा होता जा रहा है। ऊर्जा खपत में भी भारत का नाम अग्रणी राष्ट्रों में गिना जाता है वो भी तीन - चौथाई आयात करके, और केवल फॉसिल एनर्जी पर ही हमारा ध्यान है, रिन्यूबल एनर्जी पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। कुछ गलतफहमियों के कारण परमाणु ऊर्जा का भी हम मात्र 3 प्रतिशत उपयोग कर पा रहे हैं, अधिक नहीं।

पीने योग्य जल की कमी एक भयंकर चुनौती निकट भविष्य में भारत के समक्ष आने वाली है। भारत के अधिकांश प्रान्तों में भूमिगत जल का स्तर काफी नीचे चला गया है। गरीबी तथा बेरोजगारी भी महत्वपूर्ण समस्या बनी हुई है। जिस प्रकार विश्व में विकसित और विकासशील देशों में आर्थिक असमानता है तथा वह बढ़ती जा रही है उसी प्रकार भारत में भी अमीरी - गरीबी के बीच का अन्तराल गहराता जा रहा है।

उपरोक्त तथ्यों के अध्ययनोपरान्त यह स्पष्ट होता है कि प्रगति तथा विकास को न खत्म किया जा सकता है और न ही रोका जा सकता है अपितु विकास को पुनर्भाषित करने की आवश्यकता है। जिसमें विकास और पर्यावरण के बीच सन्तुलन स्थापित किया जा सके ताकि जो विकास हो वह स्थायी हो। सतत रह सके। विकास जो आज की आवश्यकताओं को तो पूरा करे ही परन्तु कल की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य रखे। यह सत्य है कि आज

हम विकास को छोड़कर प्राकृतिक अवस्था में नहीं लौट सकते जैसे उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि यातायात के साधनों को त्यागकर हम बैलगाड़ी या ड्रैगाड़ी का प्रयोग नहीं सकते हैं क्योंकि इनके बिना विकास व जीवन की गतिशीलता ही खत्म हो जायेगी जो आज के वैश्वीकरण के युग में संभव नहीं है। हाँ हमें यातायात के साधनों को तो रखना पड़ेगा परन्तु प्रदूषण कम करने के उपायों को अपना सकते हैं जैसे CNG का प्रयोग आदि।

वृक्षारोपण के कार्यक्रमों को सहृदय अपनाया जा सकता है तथा स्कूल स्तर से ही छात्रों को पेड़ों को बचाने की तालिम दी जानी चाहिये। पर्यावरण संरक्षण के प्रति जन - जन को जागरूक बनाने के अभियान ग्रामीण/शहरी, सभी स्तरों पर चलाये जाने चाहिये। जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने हेतु भी जागरूकता अभियान चलाया जाना चाहिये ताकि प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध विद्रोहन न हो। परमाणु ऊर्जा तथा रिन्यूबल एनर्जी का विकास किया जाये। सतत विकास और पर्यावरण संरक्षण किसी एक व्यक्ति, संस्था राष्ट्र की जिम्मेदारी नहीं हो सकती अपितु इसके लिए विश्व के प्रत्येक सभ्य नागरिक, सभी सरकारों, गैर - सरकारी संगठनों सभी की जिम्मेदारी है तथा ईमानदारीपूर्वक प्रयत्न किये जाने चाहिये तभी सौरमण्डल के इस सबसे सुन्दर ग्रह पृथ्वी की रक्षा की जा सकेगी।

आज विकसित देश जिन्होंने विकास के सर्वोत्तम शिखर को छू लिया वो विकसित देशों की पर्यावरण के पतन के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं जबकि विकासशील देशों ने विकास का सफर शुरू ही किया है और प्रतिबन्धों की शृंखला सामने खड़ी है। आज विकसित व विकासशील देशों द्वारा आपस में आरोप-प्रत्यारोप लगाने का समय नहीं अपितु मिल बैठकर शांतिपूर्वक रणनीति बनाने की आवश्यकता है जिसमें विकसित देशों के पर्यावरण के संरक्षण हेतु CO<sub>2</sub> के उत्सर्जन में कमी हेतु सहर्ष तैयार रहकर त्याग की प्रवृत्ति को अपनाया चाहिये तथा विकासशील देशों को पर्यावरण संरक्षण के साथ औद्योगिक विकास की छूट देनी चाहिये तथा विकासशील देशों को अपनी पहली नैतिक जिम्मेदारी पर्यावरण के संरक्षण की समझनी चाहिये। तदुपरान्त विकास और प्रगति का आकलन करना चाहिये। क्योंकि अन्ततः पर्यावरण क्षरण के नुकसान विश्व के प्रत्येक राष्ट्र व प्रत्येक मानव को भुगतने पड़ते हैं। 21 वीं सदी में सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व पर ही संकट गहरा रहा है अतः हमें भविष्य के प्रति गम्भीर होकर सोचना चाहिये ताकि मानवता की रक्षा हो सके। सतत विकास सर्वमान तथा भविष्य दोनों पहलुओं को साथ लेकर चलता है क्यों कि विकास एक सम्पूर्ण अवधारणा है। केवल मात्र हम वृद्धि को विकास मानकर खुश नहीं हो सकते अपितु विकास को सामाजिक समानता, पर्यावरण संरक्षण तथा जन - सहभागिता सभी से सम्बद्ध कर देखने की आवश्यकता है। इस कार्य में विश्व स्तर पर सम्पन्न राष्ट्रों को तथा राष्ट्र स्तर पर सम्पन्न लोगों को पहल करनी होगी, उन्हें अपने आचरणों द्वारा उदाहरण स्थापित करने होंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में अनेकानेक प्रयास किये गये हैं, जो कि सराहनीय है बस आवश्यकता है सदस्य राष्ट्रों द्वारा अपने कर्तव्यों के निष्ठापूर्वक सम्पादन की। जैसे क्योटो सन्धि पर अमेरिका द्वारा हस्ताक्षर नहीं करना बचकाना सा लगता है क्योंकि वह जिम्मेदार राष्ट्र है तो पर्यावरण संरक्षण की पहल में पीछे नहीं हटना चाहिये अपितु पहल

करके स्वयं अपनी नकरात्मक गतिविधियों पर अंकुश हेतु तैयार रहना चाहिये। विकासशील राष्ट्र आज अनेक आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं से जूझ रहे हैं इसीलिए वो ऐसे गंभीर मुद्दों पर वचनबद्धता व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं अतः विकसित राष्ट्रों को इन विकासशील राष्ट्रों के प्रति उदार रहना चाहिये।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तपन विसवाल (संपा.) मानवाधिकार, जेण्डर एवं पर्यावरण बीवी बुक्स प्रा. लि. (2011), पृष्ठ - 325
2. वही, पृष्ठ - 326
3. Academid. Edu (google.com) में सुरेन्द्र कुमार गुप्ता तथा भारतेन्दु कुमार चतुर्वेदी के लेख से लिया गया।
4. तपन विसवाल, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ - 330
5. वर्ल्ड फोकस, मई 2013, पृष्ठ - 4
6. वर्ल्ड फोकस, मई 2013, पृष्ठ - 5, 6
7. वही, पृष्ठ - 6
8. EPA (google search)
9. राजस्थान पत्रिका का 5 मई 2013 का सण्डे जैकेट

## भारतीय चित्र परम्परा के विकास क्रम में राजस्थान में अमूर्तवाद का विवरण

अचल अरविन्द

शोधार्थी, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा



shodhshree@gmail.com

**क**ला का स्वरूप हमेशा से ही अमूर्त रहा है, इस संसार में ऐसी बहुत सी विभिन्न कलाएँ हैं जो अमूर्तन हैं, बल्कि इस संसार को रचने वाला सृष्टा भी अमूर्त है। अमूर्त कला का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक काल से ही माना जाता है, परन्तु अमूर्त कला के तीन प्रमुख वादों से इसका पुनर्जन्म हुआ है। जिसमें धनवाद, अभिव्यंजनावाद व नवलचीलवाद तथा इन वादों के कई कलाकारों को अमूर्तकला की नींव का श्रेय जाता है। अमूर्त कला के इतिहास की पृष्ठभूमि के पीछे लगभग 20000 कलाकार अब तक शामिल रहे हैं। पहली अमूर्त कला की मूल निराकार आकृति वासिली कांडिन्स्की द्वारा सन् 1910 ई. में विकसित की गई थी।

तथा 1912 ई. में कांडिन्स्की ने धनवाद, सुरीलवाद व भविष्यवाद के आकारों व रचना तत्वों को अपनी कृतियों में स्थान देकर पूर्णतया वस्तुनिरपेक्ष कला का उद्भव किया। 20वीं सदी के आरम्भ में ही यूरोपीय कलाकारों ने पारम्परिक कला के प्रतिनिधित्व नियमों का उल्लंघन कर, कला के विभिन्न नियमों से मुक्त हो गये। अमूर्त कला में इन कलाकारों ने आत्मिक विचारों की विविधता के साथ वृद्धि की। इस कला में आकारों की बजाए रंग व तर्कशीलता की भावनाओं पर अधिक बल दिया। सामान्य धारणा में भौतिक अस्तित्व का इस प्रकार विलय अमूर्तन कहलाता है।

भारतीय चित्र परम्परा में अमूर्तवाद - भारतीय चित्र परम्परा के विकास क्रम में अमूर्त विचारों को या कल्पना लोक के जटिल भावों को चित्रकार ने अपने मन के भीतर संजोए रखा, तथा समाज के सम्मुख रखकर इस कला के माध्यम से हमें उस निराकार ईश्वर से जोड़ने का भरसक प्रयास किया। बरन् प्रयास ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण रूप से भारतीय समाज को जहाँ परम्परावादी कला की प्रवृत्ति थी तथा प्रत्येक कला प्रेमी व आमजन भौतिकवादी हूँ व हूँ चित्रों को पसंद करता था। उस समाज को कुछ कलाकारों ने एक ऐसी कला के दर्शन करवाये जिसे देखकर लोग स्तब्ध रह गये और यह कला लोगों को विचित्र और विशिष्ट रूप से आधुनिक लगने लगी। भारत में जैन, बौद्ध तंत्र कलाओं में जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे विविध रूप से अमूर्त चित्र हैं जिनका उद्देश्य उड़ीपन द्वारा शरीर और मन की शक्तियों का जघत्त करना है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में सत्य या यथार्थ की व्यंजना अक्सर अमूर्त रूपों में हुई है। अमूर्तन के उदाहरण हिन्दूओं में शिवलिंग तथा स्वास्तिक, ईसाइयों में क्रॉस, मुसलमानों में हिलाल, तारा, और बौद्धों में धर्मचक्र के रूप में दिखाई देते हैं।

आज संसार भर में अमूर्तकला या सूक्ष्म चित्रकला का प्रचार अत्यधिक रूप से हुआ है, वर्तमान समय का शायद ही कोई चित्रकार ऐसा हो जो, इस नयी चेतना से प्रभावित न हुआ हो। भारत में करीब-करीब सभी नये कलाकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित होता है। अमूर्तकला इस सदी की एक बहुत ही प्रभावोत्पादक देन है और भारत जैसे विकासशील देश के चित्रकार भी इससे अछूते नहीं रहे। भारत में अमूर्त कला का आधार शुद्धता, काल शून्यता, सार्वभौमिकता है, जो सिर्फ कला तत्व, रंग रेखा, रूप, चित्रदेश और संयोजन को महत्त्व देते हैं।

राजस्थान की कला धारा व अमूर्तन - ऐतिहासिक कारणों से राजस्थान में परम्परागत कला शैलियों का असर इतना प्रसन्न था कि 5वें दशक के अन्तिम बरसों में जाकर कहीं प्रयोगवाद के नाम पर कला में आधुनिक या

नई संवेदनाओं ने जगह बनाई। यह वह वक्त था जब कि भारतीय कला में कई बड़े परिवर्तन घटित हो चुके थे। राजस्थान में कला में नई संवेदनाओं का दाखिला सन् 60 के बाद ही कहना चाहिए।

राजस्थान में परम्परा के बहुत गहरे और अधुण्ण असर के कारण राज्य में नए नए को ग्रहण करने का आवेग या परम्परा को पूरी तरह अस्वीकृत करने का साहस अपेक्षाकृत देर से जागा, तो वह सकारण था और इसमें ज्यादा कुछ आश्चर्यपूर्ण भी नहीं था।

राजस्थान में अमूर्त कला के तत्व खोजें जाए तो राजस्थान के जन परम्परावादी चित्र राजस्थान की विभिन्न परम्परागत शैलियों व यहाँ की लोक कला में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में देखे जा सकते हैं। जैन शैली के चित्रों में रूपगत अमूर्तता को भली-भाँति देखा जा सकता है, जबकि राजस्थान की विभिन्न शैलियों में मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती व डूंडाड़ के रूपगत अमूर्तता के साथ-साथ रंगों व प्रकृति के सरलीकृत अभिप्रायों में भी अमूर्तता देखी जा सकती है।

भारतीय कला के पुनरुत्थान युग के पश्चात कुछ ऐसे कलाकार उभरकर आये जिनकी कृतियाँ विशुद्ध रूप से अमूर्त कही जा सकती थीं। राजस्थान की कला में अमूर्त प्रभावों की शुरुआत कुछ देर से होती है। उस समय तक भारत में अमूर्त कला काफी विकास कर चुकी थी और अमूर्त कला में काम करने वाले कलाकारों ने अपना विशेष स्थान बना लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय कला आन्दोलनों का प्रभाव उस समय की कला में स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि राजस्थान में अमूर्तवाद का प्रादुर्भाव विलम्ब से भले ही हुआ हो परन्तु जिस गति से कलाकारों ने रचनात्मकता व प्रयोगधर्मिता में नए-नए आधाम प्रतिपादित किए एवं राष्ट्रीय स्तर पर राजस्थान की एक पहचान बनाई, उसे इनका महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय योगदान कहा जा सकता है। आज की भारतीय समसामयिक कला में राजस्थान की समसामयिक कला का विशिष्ट स्थान प्राप्त होना यहाँ के कलाकारों की सतत साधना, नवीनता तथा निरपेक्ष अभिव्यक्ति के पक्षधर होने का ही परिणाम है। अन्तर्राष्ट्रीय अमूर्त कला की भाँति राजस्थान में अमूर्त कला के विभिन्न स्वरूप देखे जा सकते हैं। राजस्थान की प्रारम्भिक अमूर्त कला में कलाकारों ने अमूर्त अभिव्यंजनावादी शैली से प्रभावित होकर नई शुरुआत की थी। जिनके चित्रों में रंगों, स्वरूपों व तूलिकाघाटों द्वारा भावों की अभिव्यंजनात्मक प्रस्तुति हुई तथा कथ्य का भी निर्वाह हुआ।

कला के लिए उत्सर्ग, परम्पराओं का निर्वहन वीरत्व और आदर्श की प्रतिबद्धता राजस्थानी अमूर्तकला का प्रतिपाद्य रहा है। परम्परा और प्रगति की दो धाराओं पर खड़ी राजस्थानी अमूर्तकला निरन्तर निखर रही है तथा राजस्थान के कलाकार आज अपने सृजन से इस विधा के गौरव को बढ़ा रहे हैं।

राजस्थान में कला संस्थाओं की कमी नहीं है। यहाँ सक्रिय गुप कार्यरत है इन संस्थाओं में कुछ पारम्परिक, लोककला, मूर्तिकला के माध्यम से अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। किन्तु राज्य की कला संस्था टखमण-28 जिसका शुभारंभ 1967 में राज्य के उत्साही कलाकारों द्वारा किया गया, अमूर्त अभिव्यंजनावादी आन्दोलन

यदि राजस्थान में एक आन्दोलन के रूप में खड़ी है तो वह टखमण-28 के कलाकारों के प्रयासों से।

राजस्थान के अमूर्तवादी कलाकारों में जो नाम प्रमुख हैं उनमें श्री सुरेश शर्मा, ज्योति स्वरूप, स्व. मोहन शर्मा, ओ.डी. उपाध्याय, लक्ष्मीलाल वर्मा, शम्बीर हसन काजी प्रेमचन्द गोस्वामी, आर.बी.गौतम, दिलीप सिंह चौहान, भवानी शंकर शर्मा, हरिशंकर शर्मा, गोपाल लाल शर्मा, सुनीत धिल्लियाल, मीनू श्रीवास्तव, जगमोहन माथोड़िया, हेमन्त शेष, सुरेश जोशी, विष्णु प्रकाश माली इत्यादि के कार्य उल्लेखनीय हैं जो राज्य में अमूर्त कला धारा को लयबद्ध करते आ रहे हैं तथा इन कलाकारों ने अपनी व्यक्तिक अभिव्यक्ति नये-नये माध्यम एवं विषय वस्तु के साथ आधुनिक कला को राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया है।

वास्तव में स्वतंत्रता के बाद भारतीय चित्रकला त्रिविध धारा में प्रवाहित हुई। यही प्रवृत्तियाँ राजस्थान प्रदेश की कला में रही। कुछ कलाकार परम्परा से ही चिपके रहे और इनमें से जिन्होंने पारम्परिक चित्रों में नवीनता और समकालीन जाग्रती के स्तर पर आधुनिकता पैदा करने की कोशिश की वो आज राज्य की कला को अग्रसर कर रहे हैं।

इन कलाकारों ने अपने चित्रण में तकनीक, माध्यम एवं विषयों को लेकर वे सभी परम्परागत उपादन नकार दिये जो उनकी मुक्त अभिव्यक्ति और सृजन में सीमायें खड़ी करते थे। इस दौर में राजस्थानी आधुनिक कलाकार एवं निर्विकार फलक पर निर्बाध अभिव्यक्ति हेतु निर्बन्ध औजार वाला एक कलाकार है।

ये सभी राजस्थान की अमूर्त कला धारा को लाभान्वित करते आ रहे हैं।

**राजस्थानी लोक कला में अमूर्त अभिव्यंजना - अभिव्यक्ति कला और कलाकार के लिए सदैव सर्वोपरि रही है।** प्रागैतिहासिक काल से आज तक मनुष्य व अभिव्यक्ति के लिये कला का सहारा लेता आया है। कलाकारों ने भिन्न-भिन्न माध्यमों, शैलियों, तकनीकों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों का सृजन किया है। शैली के आधार पर कला का यदि वर्गीकरण करें, तो मोटे रूप में हम इन्हें दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला वो जो कि वस्तुगत शैली है जो अन्धानुकरण पर आधारित है व दूसरी शैली में प्रत्यक्ष दृष्टिगत, वस्तुगत आकारों को हूबहू न बनाकर उसमें कल्पना का समावेश करके भावाभिव्यक्ति के लिए आकारों का सृजन होता है, जो अर्द्ध अमूर्त या अमूर्त होती है। इनमें भाव की प्रमुखता रहती है और यह विशेषतः सौन्दर्य पर आधारित होती है। इसमें कलाकार की अनुभूति महत्वपूर्ण है। अमूर्त अभिव्यक्ति क्या है? पॉल कली ने कहा है कि यह- अर्द्धचेतन मन द्वारा अस्वेष्ठिक आकारों की अभिव्यक्ति है। यह कहा जाए कि यह किसी दृष्यगत वस्तु के बारे में हमारी अनुभूति है। अमूर्तकला में प्राकृतिक तथा यथार्थवादी आकारों को पूर्णतः त्याग दिया जाता है और ये आकार हमारे परिचित आकारों से मिलते जुलते नहीं हैं। अर्थात् इनमें वस्तुगत सम्यता नहीं रहती। अमूर्त कलाकार जानबूझकर अपना ध्यान चित्रों के मूलभूत तत्त्वों पर केन्द्रित रखते हैं, इनके आकार कभी ज्यामितीय, कभी वस्तुगत या कई बार दोनों का मिश्रण होते हैं, और इनके सही प्रयोग से सौंदर्यात्मक सामंजस्य प्राप्त की जाती है। अमूर्त कला में संयोजन दृश्यगत व भावात्मक अपील रखते हैं व इनमें भाव पहुँचाने की भावना तीव्र रहती

है। जबकि पारम्परिक आकार कलाओं में यह भावना कम रहती है। 19वीं 20वीं शताब्दी में पश्चिमी देशों में प्रचलित अमूर्त कला शैली के प्रति विश्व के कलाकारों में बहुत रुझान रहा है। भारतीय चित्रकार भी उन्हीं शैलियों की ओर उन्मुख हैं जबकि भारत में अमूर्त आकारों को बनाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है, कला के अनुरागी इस तथ्य से परिचित है कि भारतीय पारम्परिक कलाओं विशेषकर 'लोककला' में अमूर्त रूपों को सहर्ष स्वीकारा है। इनके अर्थों की व्याख्या नहीं करती पड़ती क्योंकि ये आकार हमारे ग्रामीणों के संस्कारों से जुड़े हैं।

अमूर्त रूप जैसे ऊँ, स्वास्तिक त्रिशूल, वृत्त अर्द्धवृत्त, बक्राकार रेखाएँ अपने में गहन अर्थ समेटे हैं। ये हमें अमूर्त नहीं लगते क्योंकि बचपन से ही ये हमारे समक्ष एक परिचित आकार व प्रतीक के रूप में आते रहे हैं। जहाँ हम आधुनिक अमूर्त चित्रों को समझने में असमर्थ हैं। वहीं एक ग्रामीण अनपढ़ इन संकेतों के गूढ़ अर्थों को भली-भाँति समझता है। वह उन्हें जीवन में स्वीकारता है। राजस्थान में खुले देवों पर छोटे-बड़े विभिन्न आकारों के चपटे पत्थरों को चबूतरे पर स्थापित करके उन पर रंगीन पत्थरों चिपका कर देवताओं का स्वरूप दिया जाता है। रुखे मरुस्थल में देवों के ये अमूर्त देवता दूर से चमकते हुए आकर्षक दैविक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। घड़ों पर बने साकेतिक, आलंकारिक अलंकरण जिनमें आकृति की प्रमुखता है, कभी ज्यामितीय आकारों द्वारा तो कभी केवल रेखाओं द्वारा भावाभिव्यक्ति करते हैं। अलग-अलग अवसरों पर अर्थपूर्ण आकार चित्रित किये जाते हैं। जहाँ वृत्त सूर्य बन जाता है, अर्द्धवृत्त चन्द्रमा और बक्राकार रेखाएँ पानी की लहरों का आभास देती हैं। गुदनों में बहुत सी बिन्दियाँ त्रिभुजाकार में लगे तीन बिन्दु, वृत्त (कुआँ) चूल्हा, लक्ष्मी जी के पैर, लाडा-लाडी, चौपड़, पौहची, घड़े पानी आदि जिस सरलतम रूप में बनाए जाते हैं, इतने सरल आकार हमें शायद ही पारचात्य अमूर्त कला में मिलेंगे। राजस्थानी माँडणे, फूल आदि ग्रामीणों के जीवन के रस की सुन्दर अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें वास्तविक दृश्य रूप में कहीं साम्य नहीं है, नवरात्री में गाँवों में दीवारों पर गोबर और मिट्टी आदि से बनी साँझी जो कि कुंवारी कथाओं के मन अभिलाषाओं, आकांक्षाओं का प्रतीक है। एक अमूर्त कोलाज के रूप में हमारे समझ आता है, जिससे प्रेरणा लेकर भारत के आधुनिक चित्रकारों ने चित्र बनाए हैं एक आयत के अन्दर पूरे गाँव और ग्राम निवासियों के क्रिया कलापों का कल्पनापूर्ण सरल चित्र मन को मोहित किये बिना नहीं रहता। पॉल क्ली के चित्र यही लोक मोटिफ संयोजित किये हुए दिखाई देते हैं। अन्य चित्र जैसे भी लोक कलाओं के अमूर्तकारों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। जिनमें आकृतियों का हल्का सा मुद्राव, विशय और भाव को इंगित करता है। इसी प्रकार श्रवण कुमार, मोर-मोरड़ी, सात सहेलियाँ लक्ष्मी जी के पैर भी अमूर्त अलंकरणों के रूप में दिखाई देते हैं। भारतीय लोक कलाओं में भी रंगों, आकारों, रेखाओं को एक अलग स्वरूप में देखा गया जो वस्तु की वास्तविकता से भिन्न थी।

भारतीय पर चित्रों की शैली हमें पिकासों के चित्रों की याद अवश्य दिलाती है जिनमें काल्पनिक प्रमाण, आकृति, विघटन काल्पनिक परिप्रेक्ष्य, सरलीकरण, आलंकारित, आकृतियों का विशेष शैलिकरण, अमूर्तता की ओर ले जाता है यही कारण रहा है कि राजस्थान लोक कला

की खान है। यहाँ के जन जीवन में लोककला विविध रंगों और रूपों में उभरी है। लोककला के विकास में और उसे प्राणवान बनाये रखने में यहाँ की कुशल महिलाओं का पर्याप्त योगदान रहा है। लोक जीवन के विविध अंगों की यहाँ की नारियों ने कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। समाज की धार्मिक, आध्यात्मिक सांस्कृतिक, प्रवृत्तियों को सहज कलात्मक अमूर्त अभिव्यंजित करने वाली राजस्थानी लोक कला का क्षेत्र बहुत विकसित है।

राजस्थान की कला परम्परा आरम्भ से ही समृद्ध रही है। जयपुर, बीकानेर, किशनगढ़, अलवर एवं बूंदी आदि की विभिन्न शैलियों में बने कलात्मक लघुचित्र राजस्थान द्वारा कला जगत को दी गई अनूठी भेंट है। लघुचित्रों की यह परम्परा विश्व कला में बेजोड़ है- लोक कला के क्षेत्र में राजस्थान की अनुपम देन है, यहाँ के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में लोककला के विविध रूपों एवं रंगों को उजागर होता हुआ देखा जा सकता है। राजस्थानी लोक अलंकरण की अनेक शैलियाँ आज पूर्ण रूप से जीवित हैं और यहाँ की कला परम्परा को समृद्ध बना रही है। विद्वान कला समालोचक वाचस्पति गेरौला ने एक स्थान पर लिखा है- भारतीय कला के इतिहास में राजस्थान की कला संस्कृति अद्वितीय है। मोहन वातावरण और प्राकृतिक रूप निर्माण के कारण कला एवं काव्य के उद्भव के लिए राजस्थान की धरती स्वाभाविक रूप से उपयुक्त रही है।

विगत पाँच दशकों में राजस्थान की कला का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ है। राज्याश्रयी वातावरण से निकलकर यहाँ के चित्रकारों ने स्वयं में सृजनात्मक तत्त्वों को संजोकर उसे प्रयोग के आधुनिक पथ पर अग्रसर किया है। यह समय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इस अवधि में हुई प्रमुख कला शैलियाँ विकसित हुई हैं।

विगत चार दशकों में राजस्थान में मुख्यतया अग्रोफित तीन प्रमुख चित्र धाराओं में काम हुआ है। ये धाराएँ-यथार्थवादी, परम्परावादी और अमूर्तवादी रही हैं। आधुनिक प्रयोगवादी कला के अन्तर्गत ग्राफिक शैली पर भी काम हुआ है। उपयुक्त सभी तथ्य राजस्थानी की अमूर्तकला के विवरण को सत्यापित करते हैं।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शैफाली भटनागर, कला में यथार्थ और अमूर्तन, पृ.सं. 31,32 कलादीर्घा अक्टू., 2000
2. अमूर्त विशेषांक, आकृति जुलाई-सितम्बर 1995 (ए.एल. दमामी) पृ.सं.-1,2,3
3. आधुनिक चित्रकला (रामचंद्र शुक्ल) साहित्य संगम इलाहाबाद पृ.सं.-28,29
4. हेमन्त शेष, राजस्थान में आधुनिक कला के पाँच दशक पृ.सं. 10, कला दीर्घा, अप्रैल 2003
5. शब्बीर हसन काजी, राजस्थान की समतामयिक कला, पृ.सं. 54,55, रा.ल.क.अ., जयपुर
6. विद्यासागर उपाध्याय, आकृति जु. -सित. 1995 (पृ.सं. 19,20)
7. रेखा भटनागर, भारतीय लोक कला पृ.सं.-13,14,15

## भारतीय जीवन बीमा निगम की कार्यप्रणाली का मूल्यांकन (कर्मचारियों के संदर्भ में)

डॉ. सपना चावला

सहायक प्राध्यापक, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

राजकुमारी सेन

शोधार्थी, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश)



shodhshree@gmail.com

**र**ज्य सरकार की मदद से भारतीय जीवन बीमा निगम अपने अस्तित्व में आया। इसके आने का प्रमुख उद्देश्य मानव जीवन को यथावत् रहने या ना रहने पर ऐसी क्षति की स्थिति उत्पन्न होती है और इस क्षतिपूर्ति हेतु जो व्यवस्था की जाती है। उसे ही जीवन बीमा कहा जाता है।

॥ योगक्षेम ब्रह्मन्महम्, योगक्षेम परमध्वये ॥

“योगक्षेम ब्रह्मन्महम्” भारतीय जीवन बीमा निगम का आदर्श वाक्य है, जिसका अर्थ है - “आपका कल्याण हमारा उत्तरदायित्व है।” योगक्षेम का उल्लेख लगभग 7000 वर्ष पूर्व रचित ग्रंथ ऋग्वेद से मिलता है, जिसका अर्थ उस समय तक सर्वकल्याण एवं सुरक्षा के लिए प्रयोग किया जाता था। यद्यपि यह श्री मद्भागवत गीता पर आधारित है जो नवें अध्याय के 22वें श्लोक से लिया गया है-

अनन्याच्छिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्वुपास्ते।

तेशा निव्यामियुक्तानां योगक्षेम ब्रह्मन्महम् ॥

अर्थात् जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर का निरंतर चिंतन करते हुये निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य निरंतर मेरा चिंतन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम में स्वयं प्राप्त कर देता हूँ। और यही लक्ष्य भारतीय जीवन बीमा निगम का है, जिसको परिलक्षित करते हुये वह आज प्रगति के उच्च शिखर पर है। बीमा की उत्पत्ति सभ्यता से जुड़ी हुई है। प्राचीन काल से सामूहिक व्यापार में ऋण या प्रसंविदा के साथ बीमा का तत्व जुड़ा हुआ। पुराने साहित्यों से पता चलता है कि बीमा भारत और ग्रीस/रोम में सर्वप्रथम प्रचलित था। ऋग्वेद का ‘योगक्षेम’ शब्द आज भी प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है कि सुरक्षा और कल्याण का आश्वासन दिया गया है। ‘हम्मूराबी’ और मुनस्मृति में भी भविष्य की हानियों के प्रति सुरक्षा का प्रावधान किया गया है।

बीमा का विकास आदि सभ्यता से लेकर आज तक होता आया है, इसके अस्तित्व में आने का उद्देश्य व्यक्तियों को जोखिमों से सुरक्षा प्रदान करना है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह विभिन्न रूपों में संयुक्त परिवार प्रथा से लेकर सरकारी संस्थाओं के रूप में विकसित हुआ और भविष्य में भी सुरक्षा की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयुक्त विकास एवं परिवर्तन होते रहेंगे। बीमा की आवश्यकता केवल जोखिम से सुरक्षा प्रदान करने तक ही सीमित न रहकर विनियोग एवं उत्पादन में वृद्धि करने तक बढ़ती जा रही है।

भारतीय जीवन बीमा निगम की स्थापना 1 दिसम्बर 1956 को हुई और यह पूर्णतः अपने अस्तित्व में आ चुका था। 19 जनवरी, 1956 को तत्कालीन राष्ट्रपति ने एक विशेष अध्यादेश जारी करके भारत में जीवन बीमा व्यवसाय के क्षेत्र में संलग्न सभी संस्थाओं को अपने हाथों में ले लिया और जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। 18 जून को लोकसभा में जीवन बीमा निगम के संबंध में एक अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत जीवन बीमा निगम की स्थापना की गयी। इस निगम ने सितम्बर 1956 से जीवन बीमा का व्यवसाय प्रारंभ किया। इस तिथि से निगम को जीवन बीमा का व्यवसाय करने का एकाधिकार प्राप्त है। भारत में अभी कोई भी प्रतियोगी नहीं है।

भारतीय जीवन बीमा निगम का राष्ट्रीकरण अनेक सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुये किया गया। 24 अगस्त 1956 को तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि निगम की स्थापना जनता के सहयोग और भलाई के लिये उठाया गया एक समाजवादी कदम है।

- देश के बहुमुखी विकास के लिये पंचवर्षीय योजनाओं को आधार बनाया गया।
- बीमादाओं के हितों की पूर्ण सुरक्षा करना।
- जीवन बीमा का व्यापक प्रचार-प्रसार करना।
- समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति करना।
- अस्वस्थ प्रतिस्पर्धी पर रोक।
- दावों का समुचित एवं शीघ्र निपटारा।
- अकुशल प्रबंध व्यवस्था से मुक्ति।
- व्यवस्थापन व्यय में कमी करना।
- बीमा का सामाजिक महत्व जन-कल्याण के लिये होना चाहिए।
- प्रति व्यक्ति बीमित राशि में वृद्धि करना।

**शोध का उद्देश्य -** "भारतीय जीवन बीमा निगम की कार्यप्रणाली का मूल्यांकन" के चयन करने के पीछे मेरा प्रमुख उद्देश्य यह है कि भारतीय जीवन बीमा निगम आज जिस चरम सीमा में आ खड़ा हुआ है इसका प्रमुख कारण कर्मचारी वर्ग का साहसी होना है किसी भी संस्था की कल्पना उसके कर्मचारी के बिना नहीं की जा सकती है। संस्था का मूलाधार कर्मचारी वर्ग होता है यह जब तक चलता है तब तक संस्था चलती है इसके बिना संस्था का अपना कोई अस्तित्व

नहीं है। मानव संसाधन ही एक ऐसा शस्त्र है जिससे संस्था की पहचान होती है अन्यथा सब साधन होने के बावजूद वह किसी काम के नहीं होते हैं। संक्षेप में संस्था के कर्मचारी लगातार जोखिम उठाने के लिए तत्पर रहते हैं। उनके साहस के बल पर यह आज चरम सीमा पर है।

**परिकल्पना -** शोध अध्ययन में मेरे द्वारा यह परिकल्पना बनाई गई है कि आज वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बीमा कंपनी की अनेक प्राइवेट कंपनियों के आने के बावजूद भारतीय जीवन बीमा निगम समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है तथा ज्यादा विश्वसनीय भी साबित हुई है और इसका श्रेय कहीं न कहीं चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो या अप्रत्यक्ष रूप से हो, संस्था के सेवावर्गीय (कर्मचारियों) को जाता है, क्योंकि संस्था तो कृत्रिम है, लेकिन इसे सजीव बनाते हैं, उसमें पदस्थ कर्मचारी एवं प्रबंध वर्ग। भारतीय जीवन बीमा निगम की स्थिति समाज में संतोषजनक है एवं यह अपने उत्कृष्ट स्थान को परिक्षित कर चुका है।

**कर्मचारियों की संख्या -** 31.03.2012 को निगम में कार्यरत अधिकारियों एवं कर्मचारियों की कुल संख्या 1,19,767 थी जब कि पिछले वित्तीय वर्ष के अंत में यह 1,15,362 थी।

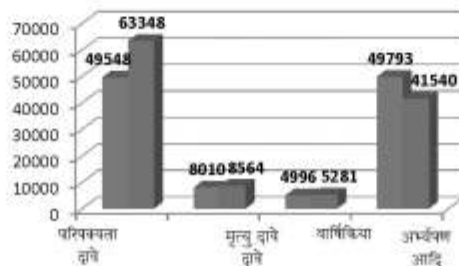
**कर्मचारी संबंध -** निगम एवं निगम के कर्मचारियों के मध्य सद्भावनापूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण संबंध रहे तथा कर्मदल का मनोबल वर्ष पर्यन्त उद्योग के समक्ष चुनौतियों का मुकाबला करने हेतु उच्च रहा।

**महिलाओं का सशक्तिकरण -** निगम में प्रत्येक स्तर पर महिला अधिकारियों एवं कर्मचारियों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। विभिन्न श्रेणियों में महिला कर्मचारियों की संख्या निम्नानुसार है -

श्रेणी	कुल	महिलाओं की संख्या
प्रथम श्रेणी अधिकारी	28417	5375
विकास अधिकारी	25638	861
तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी	65712	18059
अभिकर्ता	119767	24295

निगम के कार्यस्थल पर यौन शोषण निवारण हेतु समिति केन्द्रीय कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय, एवं मंडल कार्यालय स्तर पर सक्षमता से कार्यरत है।

पॉलिसी भुगतानों का विवरण (रु. करोड़ों में)  
2010-11 2011-12



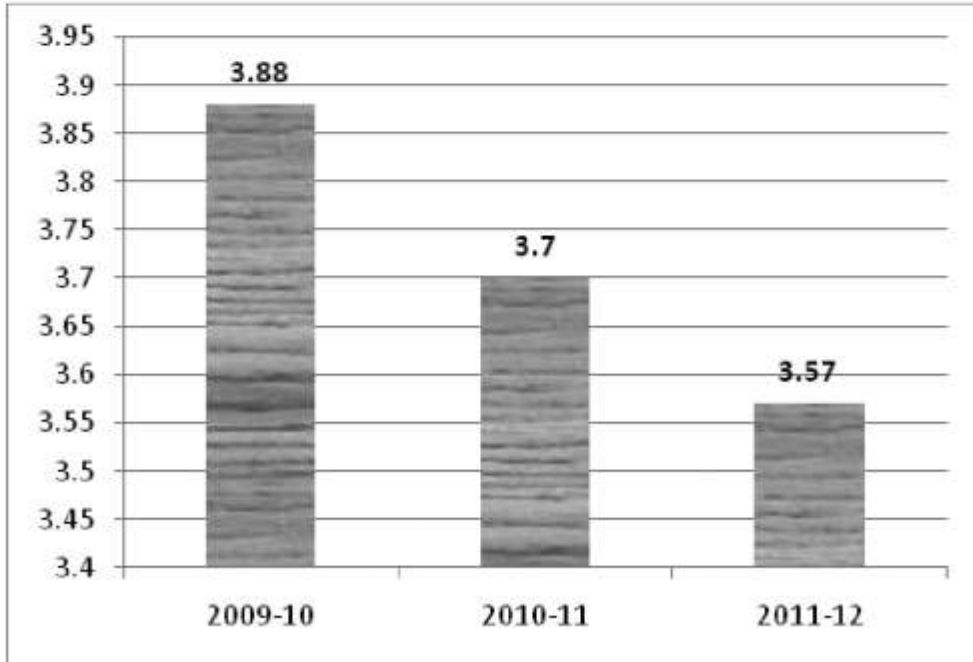
व्यय	2011-2012 (रु. करोड़ में)	2010-2011 (रु. करोड़ में)
बीमा धारकों को भुगतान		
परिपक्वता दावे संख्या (लाख में) राशि	181.49 63347.90	180.02 49547.74
मृत्यु दावे संख्या (लाख में) राशि	9.56 8564.40	9.54 8010.23
वार्षिकियाँ	5281.27	4996.05
अभ्यर्पण आदि	41540.19	49792.50
कुल	118733.76	112346.52

स्त्रोत - भारतीय जीवन बीमा निगम वार्षिक रिपोर्ट

2009-10 से 2011-12 नव व्यवसाय पॉलिसियां (करोड़ों में)

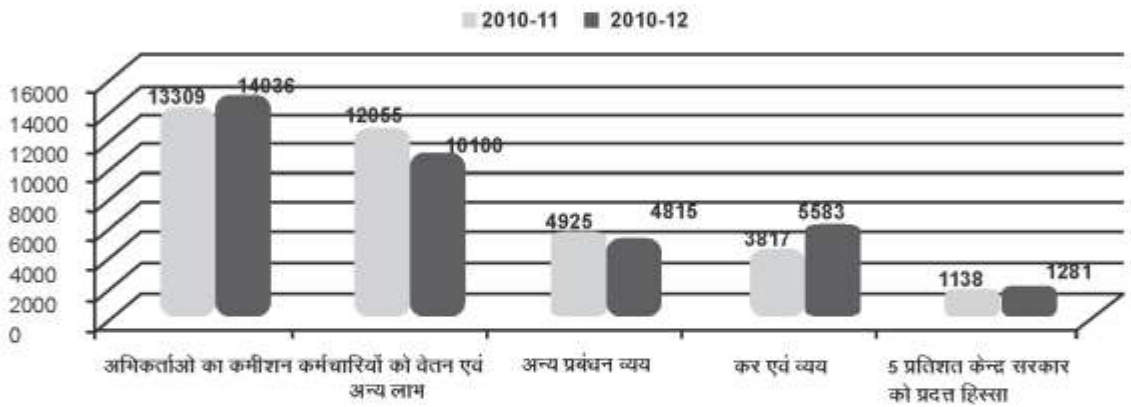
वर्ष	पॉलिसियां (करोड़ों में)
2009-2010	3.88
2010-2011	3.70
2011-2012	3.57

स्त्रोत - भारतीय जीवन बीमा निगम वार्षिक रिपोर्ट



प्रबंधन व्यय का विवरण (रु. करोड़ में)

प्रबंधन व्यय	2011-2012 (रु. करोड़ में)	2010-11 (रु. करोड़ में)
अभिकर्ताओं को कमीशन आदि	14035.63	13308.68
कर्मचारियों को वेतन तथा लाभ	10099.86	12055.28
अन्य प्रबंधन व्यय	4814.54	4925.00
कुल	28950.03	30288.96
अन्य व्यय		
अन्य व्यय (कर, आरक्षित को अंतरण, आदि)	5583.36	3816.54
केन्द्र सरकार को प्रदत्त मूल्यन अधिशेष का पांच प्रतिशत	1281.23	1137.62
कुल	6864.59	4954.16
कुल व्यय	154548.38	147589.64



स्त्रोत - भारतीय जीवन बीमा निगम वार्षिक रिपोर्ट

### समस्यायें

- बीमा कराने वाले व्यक्तियों की समस्या।
- दवाओं के भुगतान संबंधी समस्यायें।
- बीमा खाता स्थानांतरित करने में कठिनाईयां।
- कार्यालयीन एवं फील्ड स्टॉफ की सेवा-शर्तों में भेदभाव।
- मशीनीकरण के चलते सभी स्तरों पर नये कर्मचारी व अधिकारियों की भर्ती में कमी जो रोजगार को निरंतर कम कर रहा है।
- नया व्यवसाय पाने की प्रतियोगिता अब निजी बीमा कंपनियों को प्रवेश के कारण अब गलतकाट हो गई है।
- अधिकांश ग्रामीण जनता गरीब है, जिसको दो समय खाने को भी नहीं मिलता, वह ग्रामीण अपना अथवा अपने परिवार का बीमा कैसे करवा सकता है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में बीमा अभीकर्ता का भी अभाव पाया जाता है, जो वहां कार्य करना पसंद नहीं करते हैं।
- ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य परीक्षण के लिये कुशल एवं योग्य डॉक्टरों का भी अभाव है।
- विकास अधिकारी स्याई होकर भी स्याई नहीं है, क्योंकि यदि उसका कार्य सीमा के अंदर नहीं होता है, तो उसको द्वितीय श्रेणी से तृतीय श्रेणी के कर्मचारी में रख दिया जाता है।
- बीमाधारक की खोज कठिन समस्या है।
- भारत में निजी कम्पनियों को प्रवेश मिलने के कारण जीवन बीमा निगम को खतरा महसूस हो रहा है।

### सुझाव

- बीमा व्यवसाय में निजी क्षेत्र को भी कम्पनियां स्थापित करने की अनुमति दे देनी चाहिए। किसी भी एक कम्पनी को जीवन बीमा तथा साधारण बीमा दोनों में व्यवसाय करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।
- राज्य स्तर की सहकारी संस्थाओं के लिये जीवन बीमा व्यवसाय हेतु आवश्यक न्यूनतम चुकता पूंजी 100 करोड़ रुपये से कम भी निर्धारित की जा सकती है।

- जब भी कभी विदेशी बीमा कंपनियों को देश में प्रवेश करने की स्वीकृति दी जाती है, तो इन्हें चयनात्मक आधार पर ही प्रवेश दिया जाना चाहिए। उन्हें भारतीय भागीदारों के साथ संयुक्त उपक्रम के रूप में भारतीय कंपनी स्थापित करके व्यवसाय करने की अनिवार्यता लागू की जानी चाहिए।
- मल्होत्रा समिति ने जीवन बीमा निगम की वर्तमान पांच करोड़ रुपये की चुकता पूंजी को बढ़ाकर दो सौ करोड़ रुपये का सुझाव दिया। इसमें से 50 प्रतिशत भाग पर सरकार की धारिता तथा शेष भाग सामान्य जनता के लिए रखे जाने की सिफारिश की है।
- बीमा उद्योग में प्रवेश करने वाली सभी नई बीमा कंपनियों के लिए यह आवश्यक बना दिया जाना चाहिए कि वे ग्रामीण क्षेत्रों में कोई निर्धारित न्यूनतम बीमा व्यवसाय अवश्य करेंगी।
- ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन बीमा व्यवसाय को अधिक प्रचलित करने के लिए डाक जीवन बीमा को ग्रामीण क्षेत्रों में आम जनता का बीमा करने देने की स्वीकृति प्रदान कर देनी चाहिए।
- ग्रामीण क्षेत्र में जहां भारत की 72 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है, वहां इसका व्यवसाय सीमित है। अतः भारत में भारतीय जीवन बीमा निगम व्यवसाय के विस्तार की काफी संभावना है।
- भारत में निजी कंपनियों को प्रवेश मिलने के बावजूद कुल व्यवसाय का 97 प्रतिशत व्यवसाय जीवन बीमा निगम के पास सुरक्षित है। अतः निगम का व्यवसाय प्रभावित नहीं हुआ है।
- मशीनीकरण से निगम के कामकाज में बहुत अधिक सुधार हुआ है।
- बहुत समय नहीं हुआ जबकि ग्रामीण अंचल के लोगों को बीमा सेवा प्राप्त नहीं थी, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में जीवन बीमा निगम ने इस ओर सराहनीय कदम उठाये हैं।
- स्थायी कर्मचारियों को कार्य कम होने के बावजूद छूट प्रदान की जाये, जिससे उनको उनके पद से नहीं हटाया जाये।
- विकास अधिकारी अभिकर्ता को लगातार प्रोत्साहित करें।

### निष्कर्ष

विकास की शुरुआत एक छोटे से बीच से होती है,

जो समय के साथ विशाल वृक्ष बन जाता है।

भारतीय जीवन निगम व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा का वरदान है जो व्यक्ति के मरने के उपरांत भी उसके परिवार को सहयोग प्रदान करता है अर्थात् "बीमा व्यक्ति के लिए फायदेमंद है, व्यापार के लिए वरदान है, समाज के लिए आवश्यक है और आर्थिक प्रगति के लिए एक मुख्य साधन है।"

ग्रामीण जनसंख्या के अशिक्षित एवं रूढ़िवादी होने के कारण अधिकांश जनता बीमा के लाभ को नहीं समझ पाती है। परिणामस्वरूप बीमा करवाने के लिए तैयार नहीं होते हैं। ग्रामीण जनता बीमा कराना मीत को

जल्दी बुलाना समझती है, इस भ्रम में संस्था पर विश्वास अभी भी मात्र भर ही करते हैं, जो बीमा क्षेत्र के लिए चुनौती के समान सामने खड़ी हैं।

भारतीय जीवन बीमा निगम को ख्याति प्राप्त होने के पीछे विकास अधिकारी एवं अभिकर्ता का योगदान है। और इन्हें समस्याओं से होकर गुजरना पड़ता है। जिसका वह स्वयं सामना करते हैं तथा विभिन्न कठिनाईयों से गुजरने के बाद व्यवसाय को लाभ प्रदान करने में सहयोग करते हैं। अभिकर्ता संस्था का आधार स्तम्भ होता है। इस पर संस्था का अस्तित्व खड़ा है, क्योंकि बाजार में बीमाधारक की खोज करता है तथा पॉलिसियों को विक्रय करने का प्रमुख कार्य अभिकर्ता ही करता है, यह सीढ़ी के समान कार्य निवाह करता है। अर्थात् सबसे नीचे होने के बाद भी इसके बिना संस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है।

भारतीय जीवन बीमा निगम में विकास अधिकारियों को स्थाई कर्मचारी माना गया है, पर उसके लिए कार्यकोटा निर्धारित किया जाता है। जिसके अंतर्गत कार्य न होने पर विकास अधिकारी को द्वितीय श्रेणी से तृतीय श्रेणी में रख दिया जाता है, इसके लिए लेबर कोर्ट ने भी इस नियम को मान्य किया है, अर्थात् विकास अधिकारी के अंदर हमेशा इस बात का डर बना हुआ होता है। अभिकर्ता द्वारा जब विकास अधिकारी की आई.आर.डी.ए. परीक्षा पर बैठता है, तब उसका परिणाम केवल 4 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक ही आता है। इस कारणवश विकास अधिकारी की संख्या कम तथा अभिकर्ता की संख्या अधिक होती है। वर्तमान समय में 'निगम' अपने 100 मण्डल कार्यालयों एवं 2021 से अधिक शाखाओं के माध्यम से अपनी सेवायें राष्ट्र को अर्पित कर रहा है।

बीमा निगम एक ऐसी संस्था है जिसका कार्य क्षेत्र मूलतः जीवन बीमा व्यवसाय को संचालित करना है, परन्तु जीवन बीमा व्यवसाय में संलग्न इस संस्था के पास निरंतर जीवन बीमा कोष में वृद्धि होती जा रही है। इस भीषण प्रतियोगिता के दौर में जीवनियों के चयन में लापरवाही अभिकर्ताओं, विकास अधिकारियों एवं जोखिम स्वीकार करने वालों द्वारा की जा रही है। वह निगम रुपी टारिफ्टिक को तबाह भी कर सकती है। विकास में भारतीय जीवन बीमा आज अपनी स्वयं की ख्याति बनाये हुये है। तथा इसका प्रमुख उद्देश्य समाज को सेवा प्रदान कर उनको वस्तुओं को सुरक्षा प्रदान करते हुये जोखिम से बचाना है, परन्तु आज इस संस्था के साथ अन्य निजी संस्थाओं ने भी प्रवेश कर लिया है जो पॉलिसियों पर अधिक व्याज और छूट देकर समाज को भ्रमित कर रही है।

अतः भारतीय जीवन बीमा निगम को अपने सेवावर्गीय कर्मचारियों के प्रति सदा प्रयत्नशील रहते हुये उनके विकास की ओर अग्रसर होते हुये उनके योगदान का सदा ऋणी होना चाहिये, क्योंकि संस्था को सुदृढ़ बनाने में भारतीय जीवन बीमा निगम के कर्मचारियों की अहम् भूमिका है। जो संस्था के कार्यों पर उत्कृष्ट उतरते हैं। संक्षेप में कहा जाए तो संस्था की समृद्धि में सेवावर्गीय कर्मचारियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है तथा इस तथ्य को वर्तमान समय में संस्था ही नहीं अपितु सभी स्वीकार करते हैं। भारतीय जीवन बीमा निगम संस्था तथा समाज दोनों को लाभ पहुंचाते हुए विकास का मार्ग प्रशस्त कर कार्यों का निवाह करता है।

“जिन्दगी के साथ भी, जिन्दगी के बाद भी”

## संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गंगेले, डॉ अरुण; जैन, डॉ. जितेन्द्र कुमार: 'उद्यमिता विकास', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2010
2. मिश्र, डॉ. महानारायण मिश्र: 'बीमा प्रबंध एवं प्रशासन', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010
3. जैन, डॉ. एस.सी.: 'बीमा व्यवसाय के सिद्धांत', कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल।
4. व्यावसायिकता सृजन, अभिकर्ता भर्ती पूर्व परीक्षा - जीवन बीमा, 2011
5. जैन, डॉ. एस.सी.: 'बीमा प्रबंध', कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल।
6. शुक्ल, प्रोफे. विभुवननाथ: 'उद्यमिता विकास', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2008
7. मिश्रा, डॉ. पवन: 'बीमा व्यवसाय के सिद्धांत', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2010
8. राय, विजय कुमार: 'भारतीय अर्थव्यवस्था,' विवास्त पॅनोरमा प्रकाशन, दिल्ली, 2011-12
9. भारतीय जीवन बीमा निगम, 53वीं वार्षिक रिपोर्ट 2009-2010, 'योगक्षेम' जे.बी. मार्ग मुंबई - 400021
10. भारतीय जीवन बीमा निगम, 55वीं वार्षिक रिपोर्ट 2011-12, 'योगक्षेम' जे.बी. मार्ग, मुंबई - 400021
11. दैनिक भास्कर, नई दुनिया, पत्रिका, जबलपुर प्रकाशक।
12. महाजन, डॉ. धर्मवीर, महाजन डॉ. कमलेश, 'सामाजिक अनुसंधान का प्रणाली विज्ञान (मैथिलोजी पुस्तक), विकेश प्रकाशन, दिल्ली, 2011
13. मामोरिया, डॉ. दशोरा: 'मानव संसाधन प्रबंध' साहित्य भवन, आगरा, 2010

## भारतीय अर्थव्यवस्था में गांधी जी की भूमिका

श्रीमति सुमन गुप्ता

व्याख्याता, राजकीय महाविद्यालय, कोटा



shodhshree@gmail.com

**गा**ंधी जी एक महान स्वप्नपट्टा थे, उन्होंने असंख्य मानवों की न केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता एवं मानवीय प्रतिष्ठा की प्राप्ति का व्रत लिया था, वरन उनके सर्वांगीण विकास हेतु भी वे सतत प्रयत्नशील थे, "भारतीय आकाश में गांधी जी एक ऐसे नक्षत्र के रूप में प्रकट हुये थे जिसने भारत से अज्ञानरुपी अन्धकार को भगाने का बीड़ा अपने ऊपर ले लिया था। शताब्दियों से गुलाम रह रहे भारत के नर - नारियों ने उनके प्रभावशाली नेतृत्व में अपने आप को समर्पित कर दिया था। एक ओर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य और दूसरी ओर गांधी जी के नेतृत्व में भारत की गरीब जनता के बीच अहिंसा का युद्ध चल रहा था, उसमें गांधी जी को भरपूर सफलता मिली थी। अपने अहिंसा के अस्त्र से उन्होंने भारत को परतन्त्रता से मुक्ति दिलायी। गांधी जी भारत के लिये ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिये आदर्श थे। आर्थिक पक्ष हो या दार्शनिक, राजनीति हो या अर्थनीति, प्रत्येक क्षेत्र में उनके विचारों की उपयोगिता थी। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका बारे में इस महान सन्त ने कुछ न कुछ कहा हो और न सोचा हो।"

गांधी जी के अनुसार, अर्थशास्त्र नैतिक विज्ञान है। गांधी जी ने बताया था कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य की सभ्यता का अध्ययन करना, उनकी गरीबी को मिटाना, उसमें सदाचार की भावना को सृजित करना और समाज से बुराईयों को दूर करना है। गांधी जी ने अर्थशास्त्र विषयक विचार प्रस्तुत करते हुये कहा कि "सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी सर्वोच्च नैतिक स्तर का विरोध नहीं करता ठीक वैसे ही, जैसे सभी सच्चे नीतिशास्त्र अपने नामानुकूल अवश्य ही अच्छे अर्थशास्त्र भी होने चाहिये। वह अर्थशास्त्र जो कुबेर की पूजा करता है और उन लोगों को जो शक्तिशाली है, दुर्बल लोगों के विनाश द्वारा धन संग्रह करने का अवसर देता है, वह शास्त्र सर्वथा झूठा और भयानक है। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय का प्रतीक है। यह सभी लोगों का समान रूप से कल्याण चाहता है, जिनमें कमजोर भी शामिल है, और सुन्दर जीवन के लिये ऐसा शास्त्र अत्यावश्यक है।"

गांधी जी मानवतावादी थे तथा जीवन में आध्यात्मिक व नैतिक पक्ष पर अत्यधिक बल देते थे। सत्य और अहिंसा उनके अस्त्र थे और मानव मात्र का कल्याण उनका ध्येय। ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता में उनकी प्रबल आस्था थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है जो अर्थशास्त्र नैतिकता का ह्यास करता है वह पाप है उनके शब्दों में "वह अर्थशास्त्र जो व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण पर प्रहार करता है, अनैतिक है और इसलिये पापमय है।" गांधी जी के शब्दों में "वह अर्थशास्त्र झूठा है, जो नैतिक मूल्यों की उपेक्षा व अवहेलना करता है।"

अर्थशास्त्र के नियम जीवन के उच्च मूल्यों के अनुसार होने चाहिये। जीवन के उच्च नियम व अर्थशास्त्र के नियम समान होने चाहिये। आर्थिक नियम जिनका कि उद्देश्य भौतिक प्रगति, सामाजिक समता व नैतिक स्तर की उच्चता हो, प्रकृति के नियमों के अनुसार होने चाहिये। प्रकृति के नियम व अर्थशास्त्र के नियमों के मध्य कोई विरोध या विवाद नहीं है। गांधी जी ने देश की विशिष्ट परिस्थितियों के लिये अलग आर्थिक नियम की बात कहीं आर्थिक नियम के अन्तर्गत गांधी जी ने नैतिक नियम भी समाविष्ट कर दिये हैं व उनकी सत्यता व व्यापकता हेतु उन्हें प्राकृतिक नियमों से सम्बद्ध कर दिया है। गांधी जी द्वारा प्रस्तुत खादी अर्थशास्त्र सर्वोदय संकल्पना उपर्युक्त नियमों के अनुसार ही है। गांधी जी का सर्वोदय "मानव" पर आधारित है न कि "आर्थिक मानव" पर।

गांधी जी यद्यपि स्वयं अर्थशास्त्र के विद्यार्थी नहीं रहे न ही उन्होंने अर्थशास्त्र का कोई सिद्धांत प्रतिपादित किया लेकिन उनके द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विचार अर्थशास्त्र की अमूल्य निधि है। जिसका प्रयोग शास्त्ररूप से होता आया है और होता रहेगा। गांधी जी द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विचारों में मानव मूल्य समाहित है। उनके आर्थिक चिन्तन को किसी भी परम्परागत वर्गीकरण व्यक्तिवाद या समष्टिवाद उदारवाद या समाजवाद, पूंजीवाद या साम्यवाद की परिधि में बाँधना संभव नहीं है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि उनके विचार पूर्ण नहीं हैं। गांधी जी द्वारा प्रस्तुत ग्राम स्वराज्य पर आधारित राम राज्य की संकल्पना अपने आप में पूर्ण है तथा मानव के नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आत्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है।

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति ने समस्त, संसार को एक विशिष्ट युग में धकेल दिया है जिसके लक्षण औद्योगिकरण व मशीनीकरण है। औद्योगिक क्रांति के परिचात जनित श्रम और श्रमिक आन्दोलन के विकास में महात्मा गांधी के योगदान को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। गांधी जी ने सामाजिक क्रांति के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष पर विशेष बल दिया। गांधी जी ने उद्योगपतियों को श्रमिक वर्ग के न्यास की जिम्मेदारी देने की संस्तुति की। प्रत्यास सिद्धान्त गांधी जी की मौलिक देन है। यह समाजवाद की प्राप्ति का अहिंसक मार्ग है। गांधी जी ने पूंजीपतियों से कहा कि वे अपने को उन लोगों का न्यासी माने जिन पर वे अपनी पूंजी बनाने, धारण करने और बढ़ाने पर निर्भर करते हैं। गांधी जी ने सर्वोदय की कल्पना की। गांधी जी जहाँ सर्वोदय जैसे पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पवित्र साधनों का ही सहारा लेना चाहते थे। गांधी जी ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया।

“गांधी जी आधार भूत रूप से औद्योगिकरण एवं नगरीकरण के पक्ष में नहीं थे। उनके विचार से खादी के द्वारा ही सभी महत्वपूर्ण माननीय आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव है और औद्योगिकरण के द्वारा बेरोजगारी, असमानवीच कार्य - दशाओं और शोषण को बढ़ावा मिलता है। इसके साथ ही उनकी यह भी इच्छा थी कि श्रमिक संघ राजनीति तथा वर्ग संघर्ष में भाग न ले।” गांधी जी केन्द्रीयकरण को हिंसा का प्रतीक मानते उनके अनुसार आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीयकरण ही शोषण और असमानता का मुख्य कारण है। उनकी मान्यता है कि आर्थिक शक्ति के कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाने के फलस्वरूप पूंजीपति वर्ग समाज में उपलब्ध योग्यताओं और संसाधनों का शोषण कर लेने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार समाज में धनी व निर्धन के मध्य खाई का कारण भी केन्द्रीयकरण ही है। गांधी जी का स्पष्ट मत है कि विकेन्द्रीयकरण के माध्यम से आर्थिक प्रणाली में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है।

गांधी जी ने बड़े पैमाने के उद्योगों के कुछ स्थानों पर केन्द्रित हो जाने की अपेक्षा छोटे पैमाने के उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण पर बल दिया। गांधी जी चाहते थे कि उत्पादन इकाइयों आम जनता के घरों तक विशेष रूप से गाँवों तक पहुंचें। ग्रामीण व कुटीर उद्योगों का सबसे महत्वपूर्ण लाभ है। रोजगार में वृद्धि, लघु व कुटीर उद्योगों के अन्तर्गत कुशलता अधिक पायी जाती है व उत्पादन लगत कम

आती है। गांव आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई होनी चाहिये। इस ग्राम स्वराज्य में श्रम और पूंजी के बीच विवादों, साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं और वर्ग भेद के लिये कोई स्थान नहीं होगा।

खादी का गांधी जी के आर्थिक विचारों में विशिष्ट स्थान है। गांधी जी ने आत्म निर्भर गांव की प्रथम जो दो आत्मनिर्भरताएँ बतायी है वे हैं - खाद्यान के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता, वस्त्र के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता। कपड़े के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने के लिये प्रत्येक गांव में जहाँ सम्भव है कपास बोयी जानी चाहिये वह हर घर में चरखा होना चाहिये व खादी का उत्पादन किया जाना चाहिये। गांधी जी ने खादी उद्योग को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की है। भारतीय संदर्भ में उन्होंने चरखा ओर खादी को स्वदेशी पर आधारित अर्थशास्त्र के दो प्रभाव शाली प्रतीक बताया। गांधी जी ने कहा कि कारखाने के अन्तर्गत उत्पादित होने वाली वस्तु सस्ती नहीं बल्कि महंगी होती है। क्योंकि यह कुछ श्रमिकों को ऊँची मजदूरी के बदले में अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार से बाहर कर देती है। उन बेरोजगार श्रमिकों के लिये वस्तु बहुत महंगी पड़ती है क्योंकि वह उनकी पहुंच के बाहर हो जाती है। गांधी जी ने औद्योगिकरण के कई गंभीर परिणाम गिनाये जिनमें कुछ हाथों में पूंजी व शक्ति का केन्द्रीयकरण, श्रम और पूंजी के मध्य संघर्ष।

गांधी जी के अनुसार श्रम उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। श्रम साधन व साध्य दोनों हैं। गांधी जी ने अपने आर्थिक विचारों में श्रम को उच्च स्थान प्रदान किया है। उनके लिये श्रम की महत्ता आर्थिक व्यवस्था का मूलभूत तत्व है “औद्योगिक सम्बन्ध एवं श्रम कल्याण उनके महान व्रत का यद्यपि एक गौण पक्ष था तथापि इसमें संदेह नहीं कि श्रमिक वर्ग उस विशाल समुदाय का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसमें शोषण से मुक्ति प्रदान करना चाहते थे।” गांधी जी के अनुसार प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता की विचार धारा मूलतः मानवीय सम्बन्ध विचारधारा से सम्बन्धित है। प्रबन्धक एवं श्रमिक समान स्तर के हैं। उनके समानाधिकार एवं दायित्व है। प्रजातंत्र का तात्पर्य सिर्फ राजनीतिक प्रजातंत्र से नहीं है गांधीजी के अनुसार प्रजातंत्र नीचे से ऊपर की ओर अग्रसर होता है इसलिये जब तक सामान्य जनता, किसानों, श्रमिकों आदि को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती तब तक जनतंत्र का कोई अर्थ ही नहीं निकलता है। सहभागिता की विचार धारा को लागू करने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें देश के उद्योगों में प्रजातंत्र का विकास होता है।

“वास्तव में गांधी जी के विचारों के आधार पर निर्मित कार्यक्षमता और कल्याण सम्बन्धी आचार ही आज देश की श्रमनीति के मूल स्तम्भ हैं। इनके द्वारा औद्योगिक श्रमिकों और प्रबन्धकों को आचार सम्बन्धी कुछ नैतिक मूल्यों के पालन की प्रेरणा मिलती है।” भारत में प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता की विचारधारा का जन्म महात्मा गांधी के सद्प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही हुआ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भारत में गांधी जी के न्यासधारी सिद्धांत (ट्रस्टीशिप विचार) को श्रमिकीय सहभागिता का प्रारम्भिक और मौलिक आधार माना जाता है। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुये कहा था “ राज्य द्वारा संचालित उपक्रमों के प्रबन्ध में

श्रमिकों का प्रतिनिधित्व उनके द्वार चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा किया जाना चाहिये और सरकार के प्रतिनिधियों के बराबर ही उनकी संख्या होनी चाहिये। गांधी जी 'ग्राम्य लोकतंत्र' के साथ - साथ कारखाना लोकतंत्र' स्थापित करना चाहते थे जिससे श्रमिकों को पूंजीपतियों की तरह ही प्रबन्ध में अधिकार हो।<sup>15</sup>

गांधी जी का विश्वास था कि सेवायोजकों और श्रमिकों दोनों को समाज के भलाई के लिये ट्रस्टी के रूप में कार्य करना चाहिये। इस प्रकार गांधी जी ने उद्योगों में ट्रस्टीशिप पद्धति पर जोर दिया था। गांधी जी का दृष्टिकोण किसी वाद पर आधारित न होकर मानवीय दृष्टिकोण किसी वाद पर आधारित है। गांधी जी चाहते थे कि उद्योग का हर पक्ष - पूंजीपति एवं श्रमिक एक दूसरे के ट्रस्टी के रूप में कार्य करे और दोनों मिलकर स्वयं को समाज के कल्याण के लिये सहट्रस्टी या संयुक्त ट्रस्टी समझे जिससे इन दोनों ट्रस्टियों - पूंजीपति एवं श्रमिक में से किसी की भी कार्यवाही समाज के हितों के खिलाफ न हो, समाज को भी स्वयं को श्रमिकों एवं पूंजीपतियों का ट्रस्टी समझना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह ऐसी कार्यवाही न होने दे जिससे उद्योग या श्रमिकों की सुरक्षा एवं कल्याण में कोई कमी हो।<sup>16</sup>

आजादी के बाद पहले ही अहमदाबाद में मजदूर - महाजन के सवाल पर गांधी जी ने कहा था कि उद्योग और कारखाने दोनों मजदूरों और मालिकों की सदभावना से ही पनप सकते हैं। अनावश्यक हड़तालों और तालाबन्दियों से बचने के लिये गांधी जी ने उद्योगपतियों और श्रमिक यूनियनों को सलाह दी थी कि उन्हें कोई ऐसी पद्धति अपनानी चाहिये जिससे कि कल - कारखाने चलते रहे और श्रमिकों को यह अनुभव न हो कि वे केवल वेतनभोगी हैं राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस ने गांधी जी के मजदूर - महाजन के आशय को पकड़ा और व्यर्थ की तालाबन्दियों और हड़तालों से बचने के लिये प्रबन्ध से सम्बन्धित संयुक्त परिषदों की स्थापना का आग्रह किया। 'महात्मा गांधी के निक्षेपधारिता सिद्धांत का अर्थ है कि नियोजक श्रमिकों के धारक के रूप में कल्याण कार्यों की रक्षा करें। इस सिद्धांत का उद्देश्य वर्ग संघर्ष को कम करना, औद्योगिक सम्बन्ध मृदु करना तथा व्यवस्थापन में अधिक सहभागिता प्राप्त करना है।'<sup>17</sup>

श्रम प्रबन्ध सम्बन्धों के लिये गांधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत अपने में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है कि "हम पूंजीपतियों को इस बात के लिये आमन्त्रित करते हैं कि वे अपने को उन श्रमिकों का ट्रस्टी समझे जिनके ऊपर वे उत्पादन समृद्धि और पूंजी के विकास हेतु आश्रित हैं। श्रमिक अभी अवोध हैं अतः उद्योगपति ट्रस्टी के रूप में उसके द्वारा किये गये उत्पादन और समृद्धि की रक्षा करें, जब श्रमिक सुबोध हो जायेंगे और उन्हें अपनी शक्ति का आभास हो जायेगा तो नियोजक उन्हें औद्योगिक प्रतिष्ठानों में अपना सहभागी बना लगे। मालिकों को मेरी सलाह है कि वे श्रमिकों को ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों का वास्तविक स्वामी समझे। यदि श्रमिक अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु हड़ताल करते हो तो मालिक या नियोजक स्वयं ही उन्हें प्रतिष्ठान के नियन्त्रण का अधिकार दें।"<sup>18</sup>

गांधी जी का विश्वास था कि श्रमिकों में अपार शक्ति है किन्तु उन्हें अपनी शक्ति का बोध नहीं है जिस दिन श्रमिक यह महसूस कर लेंगे कि उत्पादन में उनका पूंजी से अधिक महत्व है। उनकी सहायता के बिना पूंजी उत्पादन का असहाय साधन बन जाती है। उसी दिन उन्हें अपनी अपार शक्ति का बोध हो जायेगा। श्रम प्रबन्ध के बीच श्रमिक शक्ति की स्थिति को उन्होंने एक तृतीय शक्ति या सहायक के रूप में देखा है। किन्तु वे यह नहीं चाहते थे कि श्रम शक्ति को श्रमिक संघ के नेता राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु उपयोग करें। उनकी दृष्टि में श्रमिक संघों का प्रमुख कार्य श्रम और प्रबन्ध के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना है न कि हड़ताल आदि क्रियाओं के द्वारा औद्योगिक संघर्ष और तनाव की वृद्धि करना।

गांधी जी ने श्रम और पूंजी के मध्य मधुर सम्बन्ध की स्थापना पर बल दिया। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा "श्रम पूंजी से कहीं श्रेष्ठ है। गांधी जी के अनुसार श्रमिक जो पैदा करता है, उसका वही मालिक है। अगर मेहनत या श्रम करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जाये तो उनकी ताकत का कोई मुकाबला नहीं कर सकता। इस प्रकार श्रम संघ एक बहुत बड़ी शक्ति है। श्रम के अन्तर्गत मानवीय मूल्य भी समाहित है। पूंजी को श्रम का सेवक होना चाहिये क्योंकि उनका पालन करने से अधिकार अपने आप मिल जाते हैं। गांधी जी के अनुसार श्रम संघों को अति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। श्रम के नैतिक व बुद्धिमत्ता पूर्ण अधिकारों में वृद्धि करना तथा श्रम को उत्पादन के साधनों के स्वामी के रूप में प्रतिपादित करना न कि एक दास के रूप में औद्योगिक विवादों की आपसी वार्ता, समझौते के आधार पर निपटाना अपने सदस्यों के अधिकारों व हितों की रक्षा करना। गांधी जी के अनुसार श्रम उत्पादन का साधन और साध्य दोनों हैं। श्रम के अन्तर्गत मानवीय मूल्य भी सम्माहित है। श्रम कल्याण आर्थिक स्थायित्व व सामाजिक समता की स्थापना की पूर्व शर्त है। एक आदर्श समाज में प्रत्येक श्रमिक को पूर्णरोजगार प्राप्त हो जाना ही पर्याप्त नहीं है बरन् कार्य व जीवन की बेहतर दशाएँ भी आवश्यक है।

पूंजीपतियों के पास अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बचा रहने वाला धन वास्तव में समाज की धरोहर है तथा पूंजीपति उस धन के संरक्षक है अतः वह धन लाभ कल्याणकारी कार्यों में ही व्यय किया जाना चाहिये। पूंजी का सामाजिक उपयोग तभी सम्भव है जब श्रमिकों को भी उद्योग में अन्य भागीदारों के समान समझा जाये तथा उन्हें वह अधिकार प्राप्त हो जाए कि वे उद्योग से सम्बन्धित विषयों में अपना पूर्ण योग दे सकें।

मालिक और मजदूर आपस में सहस्वामी और सहकर्मी हैं। मालिकों में यह भावना पैदा की जानी चाहिये कि वे अकेले ही उद्योग के मालिक नहीं हैं बल्कि वे हजारों अन्य श्रमिकों के साथ सहकर्मी और सहयोगी हैं। इसके साथ ही उद्योगों के प्रति श्रमिकों में स्वामित्व की भावना जागृत करनी चाहिये। जितनी शीघ्र इन भावनाओं का प्रसार प्रजातंत्रात्मक समाज में होगा उतनी ही शीघ्र समाज का उत्पादन और भला होगा। गांधी जी का कहना था कि श्रमिक और मालिक एक ही परिवार के सदस्य हैं इसका तात्पर्य यह हुआ कि उद्योग में श्रमिकों और मालिकों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

महात्मा गांधी का विचार था कि समस्त सम्पत्ति प्रकृति की देन है। इस लिये इस पर समाज का अधिकार होना चाहिये और इसका उपयोग जनता के कल्याण में किया जाना चाहिये। पूंजी और श्रम दोनों न्यास के स्वरूप हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये प्रबन्धक में श्रमिकों की सहभागिता के गांधी जी समर्थक थे।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पन्त, जे.सी. एवम् सेठ, एम.एल. "आर्थिक विचारों का इतिहास" सन् 1988 पृ. 437
2. सुब्रह्मण्यम, के. एन. "लेबर मैनेजमेन्ट रिलेशन इन इण्डिया" पृ. 78
3. यंग इण्डिया, सन् 1982 पृ. 8-9
4. पाण्डेय, बालेश्वर - "श्रम प्रबन्ध सम्बन्धों की गत्यात्मगता" सन् 1983 पृ. 167
5. खरे, पी.सी. एवम् सिन्हा, सी.सी. "औद्योगिक समाज विज्ञान" सन् 1983 पृ. 66
6. भूगोलीवाल, टी.एन. "श्रम अर्थशास्त्र एवं औद्योगिक सम्बन्ध" सन् 2005 पृ. 259
7. मामोरिया, चतुर्भुज एवम् दशोरा, मोहन लाल "भारतीय श्रम समस्याएँ" सन् 1975 पृ. 457
8. हरिजन - 31.3.1946

## राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग : संगठनात्मक एवं कार्यात्मक अध्ययन

डॉ. वन्दना शर्मा

व्याख्याता, राजकीय महाविद्यालय, कोटा



shodhshree@gmail.com

**मा**नवाधिकार 'जीओ और जीने दो' की भावना पर आधारित हैं। जिनका जन्म पृथ्वी पर मानव विकास के साथ ही हुआ क्योंकि इनके बिना माननीय सभ्यता और संस्कृति का विकास संभव नहीं है। मानवाधिकार के अन्तर्गत वे सभी अधिकार आते हैं, जो मानव होने के नाते व्यक्ति के विकास और कल्याण के लिए अनिवार्य हैं। मानवाधिकारों की अवधारणा का विकास प्राकृतिक सिद्धान्तों के अहरणीय अधिकार से हुआ है। परन्तु मानवाधिकार शब्द की उत्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून से हुई है। मानवाधिकारों की पहली सुव्यवस्थित घोषणा 10 दिसम्बर 1948 को की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी घोषणा मानवाधिकारों की विश्व घोषणा कहलाती है। इसलिए 10 दिसम्बर को मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है।

मानव अधिकार वह अधिकार हैं जो व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तिगत विकास और अस्तित्व के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। ये अधिकार हमारी प्रकृति में निहित हैं जिनके अभाव में एक व्यक्ति सभ्य जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। मानवाधिकार की यह अवधारणा सत्ता के स्वेच्छाचारी इस्तेमाल को रोकने के उपकरण के रूप में विकसित हुई है। यह शाश्वत सत्य है कि विश्व में मानवाधिकारों का व्यापक स्तर पर हनन हो रहा है। इस संदर्भ में 'एमनेस्टी इन्टरनेशनल' की रिपोर्ट उल्लेखनीय है। जिसमें 150 देशों में मानवाधिकारों की स्थिति की समीक्षा की गई थी।

सोमालिया की भुखमरी, इथोपिया का अकाल, सूडान एवं अफ्रीकी देशों की भुखमरी, विकासशील देशों की गरीबी, पुलिस द्वारा कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, अमरिका में रोगियों को फांसी देना आदि ने मानवाधिकारों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा पत्र जारी किया गया जिस पर 1948 में भारत ने हस्ताक्षर किए। यद्यपि इस वक्त भारत एक संक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहा था तथापि मानवोचित अधिकारों के संरक्षण के प्रति तत्कालीन सरकार ही नहीं, संविधान निर्माता भी सजग थे। इसलिए भारतीय संविधान की प्रस्तावना के साथ-साथ विभिन्न अनुच्छेदों में इसकी झलक देखने को मिलती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा हेतु अनेक संस्थाएँ सक्रिय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रारम्भ हुयी इस मानवाधिकार की अवधारणा को मूर्तरूप देने हेतु भारत में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा 3 में "राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग" के गठन की व्यवस्था की गयी है। भारत में मानवाधिकारों के संरक्षण एवं समृद्धि के लिए अक्टूबर 1993 में "राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग" की स्थापना की गयी।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग - संरचना एवं कार्य भारत में मानवाधिकारों के सम्मान की संस्कृति अभी पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई है। आज भी समाज में सम्प्रभु वर्ग खुले रूप में लोगों के अधिकारों का हनन करते रहते हैं। भारत सरकार ने मानवाधिकारों की रक्षा हेतु "राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग 1993" गठित किया है। जिसमें 2006 में अनेक संशोधन भी किए गए हैं। राज्यों में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए राज्य

मानवाधिकार आयोग गठित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग आदि भी गठित किए गए हैं।

आयोग का गठन - आयोग में अध्यक्ष सहित 8 सदस्य होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है

1. सभापति - उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश
2. एक सदस्य - जो उच्चतम न्यायालय का वर्तमान या निवर्तमान न्यायाधीश रहा हो।
3. एक सदस्य - जो उच्च न्यायालय का वर्तमान या निवर्तमान न्यायाधीश रहा हो।
4. दो सदस्य - जिन्हें मानव अधिकारों से सम्बन्धित मामलों का ज्ञान हो या उनमें व्यावहारिक अनुभव हो।
5. तीन पदेन सदस्य - जो निम्न आयोगों के अध्यक्ष होंगे -
  - (1) अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष ।
  - (2) राष्ट्रीय महिला आयोग की अध्यक्ष ।
  - (3) अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियों के आयोग के अध्यक्ष।
6. महासचिव - कार्यपालक अधिकारी

पदावधि - आयोग के अध्यक्ष एवं पहले चार सदस्यों की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है तथा ये दूसरी पदावधि हेतु भी योग्य होंगे अर्थात् ये 10 वर्ष तक आयोग की सेवा कर सकते हैं। आयोग के अध्यक्ष तथा किसी सदस्य को उसके पद से उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई जांच के बाद रिपोर्ट देने पर राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है।

**राष्ट्रपति मानवाधिकार आयोग में नियुक्त सभापति  
सारणी संख्या 01 पदावधि**

क्र.सं.	नाम	पदावधि	पद
1.	न्यायाधिपति श्री रंगनाथ मिश्रा	12.10.93-24.11.96	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
2.	न्यायाधिपति श्री एम.एन.वैकटचले	26.11.96-24.10.99	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
3.	न्यायाधिपति श्री जे.एस. वर्मा	04.11.99-17.01.03	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
4.	न्यायाधिपति श्री ए.एस. आनन्द	17.02.03-31.10.06	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
5.	न्यायाधिपति शिखराज बी. पाटिल (कार्यवाहक सभापति)	01.11.06-01.04.07	न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
6.	न्यायाधिपति श्री राजेन्द्र बाबु	02.04.07-31.05.09	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
7.	न्यायाधिपति श्री गोविन्द प्रसाद माथुर (कार्यवाहक सभापति)	01.06.09-06.06.10	न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
8.	न्यायाधिपति श्री के.जी. बालकृष्णन	07.06.10-11.06.15	मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय

**आयोग की वर्तमान संरचना सारिणी संख्या 02**

क्र.सं.	नाम	पद	नियुक्ति
1.	न्यायाधिपति श्री जी.बालकृष्णन मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय	सभापति	07.06.10
2.	न्यायाधिपति साइरिक जोसफ न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय	सदस्य	27.05.13
3.	न्यायाधिपति श्री डी. मुरुगाणम मुख्य न्यायाधीश दिल्ली उच्च न्यायालय	सदस्य	21.09.13
4.	श्री सत्यव्रत पॉल भारतीय उच्चायुक्त (पाकिस्तान राजदूत)	सदस्य	02.03.09
5.	श्री शरदचन्द्र सिन्हा डी.जी. (एन.आई.ए.)	सदस्य	08.04.13
6.	3 पदेन सदस्य		

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की शक्तियाँ और कार्य - राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की शक्तियाँ और कार्य निम्नलिखित हैं -

- किसी पीड़ित व्यक्ति द्वारा अपने से या उसकी ओर से किसी व्यक्ति द्वारा दायर की गयी याचिका का मानवाधिकार के उल्लंघन के परिवाद या उसके दुष्प्रेरण या लोक-सेवक द्वारा ऐसे उल्लंघन के निवारण में उपेक्षा के परिवाद की जांच करेगा। आयोग के पास जांच करने के लिए कर्मचारी होंगे इसके अतिरिक्त इस कार्य को सुगम बनाने के लिए आयोग के पास व्यक्तियों के प्राण, स्वतन्त्रता, समानता तथा मानवीय गरिमा, जो भारतीय संविधान द्वारा प्रत्याभूत हैं तथा सिविल तथा राजनीतिक अधिकार और आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में समाविष्ट हैं, से सम्बन्धित मानवाधिकार के उल्लंघन के परिवार से जांच करते समय केन्द्रीय अभिकरणों तथा राज्यों के अभिकरणों की सहायता प्राप्त करने की शक्ति होगी।
- किसी अन्य कृत्यों का निर्वहन कर सकता है, जिन्हें वह मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए आवश्यक समझता है।
- न्यायालय के समक्ष लम्बित मानवाधिकारों के दुरुपयोग के आरोपों को सम्मिलित करने वाले किसी कार्यवाही में ऐसे न्यायालय के अनुमोदन से हस्तक्षेप करने की शक्ति होगी।
- राज्य सरकार को सूचना देकर उसके नियन्त्रणाधीन किसी कारागार या किसी अन्य संस्थान में जा सकता है। जहां व्यक्ति उपचार, सुधार या संरक्षण के लिए निरुद्ध किये जाते हैं या रखे जाते हैं, आयोग को यह अधिकार अन्तर्वासियों की जीवन दशा का अध्ययन करने तथा उसके सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए प्रदान किया गया है।
- मानवाधिकार के क्षेत्र में अनुसंधान करेगा तथा उसमें अभिवृद्धि करेगा।
- आतंकवाद की कार्यवाही तथा अन्य कारणों को पुनर्विलोकन करेगा, जो किसी व्यक्ति के मानवाधिकारों तथा तत्समय प्रवृत्त संरक्षणों को प्रतिशिद्ध करता है और इस सम्बन्ध में समुचित सिफारिश करेगा।
- मानवाधिकार के संरक्षण के लिए भारतीय संविधान या अन्य किसी विधि द्वारा या उसके अधीन उपबन्धित संरक्षणों को पुनर्विलोकन करेगा और उसके क्रियान्वयन के लिए सिफारिश भी करेगा।

इस प्रकार मानवाधिकार आयोग की परिधि में वे सभी कार्य आ जाते हैं जो किसी न किसी रूप में मानव अधिकारों से जुड़े हुए हैं। मानवाधिकार आयोग का कार्य केवल मानवाधिकारों का संरक्षण करना ही नहीं है अपितु मानवाधिकारों के प्रति जनसाधारण में चेतना जाग्रत करना तथा इस क्षेत्र में कार्यरत समस्याओं को प्रोत्साहित करना भी है।

मानवाधिकारों की उल्लंघन की शिकायतें मिलने पर आयोग उनकी

जांच करता है और प्रभावी कार्यवाही करता है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भूमिका का मूल्यांकनात्मक अध्ययन भारत में 1993 से राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग एक सजग प्रहरी के रूप में नागरिकों के मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु प्रयासरत है। पिछले कुछ वर्षों से भारत में मानवाधिकार आन्दोलन एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। आयोग की भूमिका को निम्न रूपों में देखा जा सकता है।

एक आन्दोलन अभिकरण के रूप में आयोग का मुख्य कार्य मानव अधिकारों के हनन की एक अन्वेषण करने वाले अभिकरण के रूप में अतिक्रमण की जांच करना है। आयोग ने पुलिस हिरासत में मौत, मुठभेड़ की हत्याएँ, पुलिस का व्यवहार, भूख से होने वाली मौतें, बलात्कार जैसे मुद्दों पर अन्वेषण करके महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

अभी हाल ही सन् 2014 को दिल्ली की नवनिर्वाचित केजरीवाल सरकार को एक नोटिस जारी किया गया है, जिसमें बेघर लोगों की सर्दी एवं बारिश से मौत होने पर रिपोर्ट मांगी गयी है।

सुधारात्मक भूमिका आयोग ने अपने अल्पकाल में सुधारों के अभिकरण के रूप में विशेषकर सामाजिक मामलों में प्रशंसनीय कार्य किया है। आयोग ने विभिन्न जेलों में रह रहे कैदियों की दशा एवं स्थिति का अन्वेषण ही नहीं किया है अपितु कैदियों के लिए रिहाई के बाद आजीविका कमाने में सक्षम बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जेलों के सुधार में भी आयोग ने अनेक सराहनीय कार्य किए हैं। तिहाड़ जेल में आयोग ने सूक्ष्म अध्ययन करके अनेक कार्यों को चलाने के सुझाव दिए। आयोग ने अपराधिक व्यवस्था को अधिक मानवीय बनाने तथा सुधार के लिए दृढ़ प्रयास किए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर भूमिका मानवाधिकारों को लेकर आज पूरा विश्व चिंतित है। भारत में मानवाधिकारों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। इस दिशा में आयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आयोग ने टाडा जैसे कानून का सूक्ष्म निरीक्षण कर इसके गलत प्रयोग को उजागर किया। आयोग के निरन्तर प्रयासों के कारण 2003 में इस कानून का उन्मुलन किया गया।

मानवाधिकारों के प्रचार-प्रसार में भूमिका समाज का एक बहुत बड़ा भाग मानवाधिकारों की जानकारी से अनभिज्ञ है। मानवाधिकार आयोग का एक मुख्य कार्य मानव अधिकारों के बारे में लोगों को जागरूक बनाना है। मानव अधिकारों के शिक्षण को बढ़ावा देने के लिए आयोग ने तीन-स्तरीय रणनीति का निर्धारण किया है। पहला, आयोग सभी राजनीतिक दलों का क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर समर्थन प्राप्त करता है। दूसरा, आयोग मुख्यमंत्रियों की बैठक, सरकारी अधिकारियों को मानवाधिकारों के बारे में संवेदनशील बनाने के लिए सम्मेलन का आयोजन करता है। तीसरा, आयोग मानव संसाधन मंत्रालय तथा एन.सी.ई.आर.टी. के बीच मानव अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए वार्ता का आयोजन करता है। स्कूलों में मानवाधिकारों को बढ़ावा देने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से पाठ्यक्रमों को निर्धारित करता है। आयोग ने शिक्षकों तथा अन्य शिक्षाविदों से मानवाधिकारों के

प्रोत्साहन और मार्गदर्शन के लिए मानवाधिकारों की स्रोत पुस्तिका की सामग्री को तैयार किया है। आयोग के सुझाव पर ही अधिकतर विश्वविद्यालयों में अध्ययन पाठ्यक्रम में स्नातकोत्तर स्तर पर मानवाधिकारों के पाठ्यक्रमों का प्रारम्भ किया है। इसके अतिरिक्त आयोग मानव अधिकारों के विशिष्ट पहलुओं पर विभिन्न संगठनों को सेमिनार, कार्यशालाएँ और संवेदनशील कार्यक्रमों के आयोजन के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। मानवाधिकार आयोग का अत्यधिक सराहनीय कार्य पुलिस, सेना तथा अर्धसैनिक बलों को मानवाधिकारों के प्रति संवेदनशील बनाना है। आयोग ने पुलिस के लिए आदर्श पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए कई राज्यों के पुलिस महाविद्यालयों की बैठक बुलाई है। इन सबके अतिरिक्त आयोग का सबसे प्रशंसनीय कार्य सभी शैक्षणिक संस्थानों में 10 दिसम्बर को मानवाधिकार दिवस के रूप में सुनिश्चित करना है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की सशक्तता भारत में मानवाधिकारों के सम्मान की संस्कृति अभी पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई है। व्यक्ति की गरिमा की संवैधानिक गारन्टी तथा लोगों को न्याय दिलाने के अनेक कानूनी प्रावधानों के बावजूद सामाजिक सम्प्रभु वर्ग खुले रूप में लोगों के अधिकारों का हनन करते आ रहे हैं। भारत में मानवाधिकारों की स्थिति चिंताजनक है। यद्यपि आयोग ने एक सजग प्रहरी की तरह मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु सार्थक पहल की है। परिणामस्वरूप भारत में मानवाधिकार आन्दोलन एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। आयोग के निरन्तर प्रयासों के कारण पुलिस, सेना और सुरक्षा बलों में मानवाधिकारों के अनुसरण के प्रति बहुत जागरूकता पैदा की है। किन्तु आयोग संवैधानिक प्रतिबंधों एवं सीमाओं के कारण एक जांच अभिकरण मात्र बनकर रह गया है, क्योंकि आयोग मामलों की जांच के बाद केवल कार्यवाही हेतु परामर्श मात्र ही दे सकता है। उसके सुझावों को मानना न मानना सरकार के हाथ में होता है। इस दृष्टि से यह एक शक्तिहीन आयोग है। आयोग मूलरूप से एक छानबीन और प्रतिवेदन देने वाला अभिकरण मात्र है जिसमें नागरिक अदालत की शक्तियाँ तो निहित हैं किन्तु यह किसी अपराधी को दण्ड नहीं दे सकता।

यदि कोई राज्य मानवाधिकारों के हनन के लिए किसी सरकारी संस्थान की नियुक्ति कर लेता है तो स्वयं द्वारा जांच पड़ताल की शक्ति सीमित हो जाती है। आयोग सशस्त्र सेनाओं से सम्बन्धित मानवाधिकार मुद्दों की छानबीन नहीं कर सकता। आयोग की अपनी स्वयं की वित्तीय व्यवस्था नहीं है और यह केन्द्रिय अनुदान पर निर्भर रहता है। आयोग अन्य कानूनी अभिकरणों जैसे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय महिला आयोग, एस.टी./एस.सी. आयोग के साथ परस्पर निर्भरता की स्थिति में कार्य करता है।

इस प्रकार आयोग को सीमित शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। प्रक्रियात्मक और संस्थात्मक प्रतिबंधों के बावजूद आयोग ने मानव अधिकारों को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक परामर्शदात्री निकाय होते हुए भी आयोग ने मानवाधिकार के प्रति जन जागरूकता लाने का सराहनीय कार्य किया है। मानवाधिकारों को जड़ से मजबूत करने के लिए अनुकूल प्रक्रिया तथा परिस्थितियों की आवश्यकता है। नौकरशाही, पुलिस प्रशासन में अभी भी ब्रिटिश उप निवेशी मानसिकता विद्यमान है। जब तक साक्षरता निर्धनता उन्मूलन जैसे कार्यपूर्ण नहीं हो पाते मानवाधिकार अधिकांश लोगों के लिए एक सपना ही रहेगा।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तपन विश्वास - मानवाधिकार सेन्टर एवं पर्यावरण, बीवाबुक 2011 नयी दिल्ली।
2. डा. एस.सी. सिंहल - समकालीन राजनीतिक मुद्दे, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल 2010 आगरा।
3. मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993
4. वार्षिक प्रतिवेदन - राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग।

## जैन साहित्य में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल

डॉ. संजीवकुमार गोधा

जयपुर



shodhshree@gmail.com

**का**ल शब्द का प्रयोग समय, मृत्यु, यमराज, शनि, भाग्य, कोयल, काला साँप आदि अनेक अर्थों में किया जाता है। दार्शनिक जगत में नैयायिक, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, सांय, योग आदि भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पार्श्चात्य दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में काल को स्वीकार किया है।

जैन दर्शनानुसार काल द्रव्य को समय के रूप में देखा गया है। उसके अनेक भेद-प्रभेदों में से हम यहाँ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप काल परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं। विभिन्न कालों में मनुष्यादि की ऊँचाई, आयु आदि की विविधता के साथ-साथ उन कालों की विशिष्ट परिस्थितियाँ, भोग भूमि, कर्म भूमि, कुलकर व्यवस्था, युग प्रवर्तक तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि श्लाका पुरुष, धर्म विध्वंस की चेष्टा करने वाले कल्की एवं अर्द्धकल्की, सृष्टि प्रलय का स्वरूप, पुनः सृष्टि सृजन आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों को यहाँ सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

### उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी काल

जैन परम्परा के अनुसार कालचक्र 'उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी' के रूप में क्रमशः निरन्तर परिवर्तन किया करता है। उत्सर्पिणी काल उत्थान का काल है, इस काल में विकास देखा जाता है तथा अवसर्पिणी काल ह्रास का काल है, इसमें निरन्तर गिरावट / कमी देखी जाती है। इन दोनों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण निम्नानुसार हैं, किञ्चित् शब्द भेद से लगभग सभी में एकसी बात कही गई है -

- अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यचों की आयु, शरीर की ऊँचाई एवं विभूति आदि सब ही घटते रहते हैं तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं।<sup>1</sup>
- भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिहासाविति....अनुभवायुः प्रमाणादिद्वतौ।<sup>2</sup> जिसमें भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के अनुभव, आयु, प्रमाण आदि की वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल है।
- अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी। तद्विपरीतोत्सर्पिणी।<sup>3</sup> जिसमें अनुभव, आयु, शरीरादि की उत्तरोत्तर उन्नति हो, वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो, वह अवसर्पिणी है।
- जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये, उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रम से घटते जायें, उसे अवसर्पिणी कहते हैं।<sup>4</sup>
- जय बाहुबल, वैभव, मनुष्य शरीर, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य और धैर्य बढ़ते हैं तो उत्सर्पिणी काल होता है, और जब ये घटते हैं, तब अवसर्पिणी काल होता है।<sup>5</sup>

➤ पंच भरत एवं पंच ऐरावत क्षेत्रों में स्थित जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु और बल की क्रमशः अवसर्पिणी में हानि और उत्सर्पिणी काल में वृद्धि होती है।

**अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालों का प्रमाण -**

दोनों ही काल छह-छह प्रकार के हैं। अवसर्पिणी काल - सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःशमा, दुःशमासुषमा, दुःषमा और अतिदुषमा (दुषमादुषमा) के भेद से छह प्रकार का है तथा उत्सर्पिणी काल अतिदुषमा से प्रारंभ करके क्रमशः बढ़ता हुआ सुषमासुषमा तक जाता है। दोनों ही कालों का प्रमाण दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल होता है। कोड़ाकोड़ी का अर्थ करोड़ गुना करोड़ होता है। वर्तमान में कुछ विचारक गणनाओं में सामजस्य बैटाने के लिये कोड़ी शब्द का अर्थ 20 अथवा 10 भी बताने लगे हैं। लौकिक में पतंग आदि कुछ वस्तुयें कोड़ी की गणनानुसार बिकती हैं; परन्तु अलौकिक गणनाओं में यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता।

**सागरोपम -** यह काल का एक नाप है, जिसका अर्थ मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले काल खण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण होता है। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। पल्योपम की चर्चा तिलोयपण्णती<sup>15</sup> सर्वाथसिद्धि<sup>16</sup> राजवार्तिक<sup>17</sup> त्रिलोकसार<sup>18</sup> कार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>19</sup> आदि अनेक आगम ग्रन्थों में विस्तार से की गई है। वहाँ इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि - एक प्रमाण योजन विस्तार वाले और इतने ही गहरे गड़ड़े को उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुये मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्डों से भरकर सी-सी वर्षों में एक-एक बाल निकालें। जब वह गड़ड़े पूरा खाली हो जाये तब एक व्यवहार पल्य (पल्योपम) होता है। असंख्य व्यवहार पल्य का एक उद्धारपल्य तथा असंख्य उद्धारपल्य का एक अद्धारपल्य होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धारपल्योपम का एक सागरोपम होता है। ऐसे बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कल्पकाल कहा गया है।

जैनों के समान वैदिक ग्रन्थों में भी कल्पकाल का उल्लेख मिलता है। वहाँ चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प कहा है। इस कल्प में 1000 चतुर्युग होते हैं। वैदिक पुराणों में इतना काल ब्रह्मा के एक दिन या रात्रि के बराबर माना गया है।<sup>14</sup>

**अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के विभाग -** तिलोयपण्णती<sup>15</sup>, सर्वाथसिद्धि<sup>16</sup>, राजवार्तिक<sup>17</sup>, त्रिलोकसार<sup>18</sup> एवं लोकविभाग<sup>19</sup> में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल को उनके छह भेदों में विभाजित किया है। अवसर्पिणी के छह विभाग/काल निम्नानुसार है -

- (1) सुषमासुषमा - 4 कोड़ाकोड़ी सागर
- (2) सुषमा - 3 कोड़ाकोड़ी सागर
- (3) सुषमादुषमा - 2 कोड़ाकोड़ी सागर
- (4) दुषमासुषमा - 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम

- (5) दुषमा - 21,000 वर्ष
- (6) अतिदुषमा - 21,000 वर्ष

उत्सर्पिणी के छह विभाग<sup>20</sup> इसके विपरीत क्रम में है, जो कि निम्नानुसार है -

- (1) अतिदुषमा - 21,000 वर्ष
- (2) दुषमा - 21,000 वर्ष
- (3) दुषमासुषमा - 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
- (4) सुषमादुषमा - 2 कोड़ाकोड़ी सागर
- (5) सुषमा - 3 कोड़ाकोड़ी सागर
- (6) सुषमासुषमा - 4 कोड़ाकोड़ी सागर

उक्त नामों में काल अथवा समय सूचक 'समा' शब्द में 'सु' एवं 'दुः' उपसर्गों का प्रयोग उनके शुभ और अशुभ का सूचक है। इन उपसर्गों से छहों कालों के नाम की सार्थकता बताते हुये आचार्य जिनसेन लिखते हैं -

**समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्हर्गयोः ।  
सुशमा दुःशमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ॥<sup>21</sup>**

समा काल के विभाग को कहते हैं। तथा 'सु' और 'दुः' उपसर्ग क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ में आते हैं। 'सु' और 'दुः' उपसर्गों को पृथक्-पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार 'स' को 'ष' कर देने से सुषमा और दुषमा शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुरा काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले हैं।

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की तरह घूमते रहते हैं<sup>22</sup> अर्थात् जिस तरह कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष आता है, उसी तरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी काल आता है। कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष के समान कालचक्र परिवर्तन की बात रविषेणाचार्य ने पद्म पुराण<sup>23</sup> में भी की है। तिलोयपण्णती में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में रँहट-घटिका न्याय<sup>24</sup> की तरह अनन्तानन्त<sup>25</sup> उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी होने का उल्लेख है। ये क्रम सदा चलता ही रहता है।

जैन आगमों के अतिरिक्त विष्णुपुराण<sup>26</sup> में भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ लिखा है कि 'हे द्विज ! जम्बूद्वीपस्थ अन्य सात क्षेत्रों में भारतवर्ष के समान अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी अवस्था नहीं है।'

**अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि) -**

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी के प्रथम तीन कालों में भोग भूमि रहती है। इन कालों में भोगों की प्रधानता होती है, इसीलिये जहाँ ये काल वर्तते हैं, उन्हें भोगभूमि कहते हैं। यहाँ सभी बाह्य सामग्री विविध प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। यहाँ सभी

युगलिया<sup>17</sup> जन्म लेते हैं, और वे जीवन पर्यंत पति-पत्नी के समान रहते हैं। इन मनुष्यों की आयु के नौ मास शेष रहने पर ही स्त्री के गर्भ धारण होता है, शेष काल में किसी के भी गर्भ नहीं रहता, फिर नौ मास पूर्ण होने पर युगल (नर-नारी) भूशय्या पर सोकर गर्भ से युगल (पुत्र-पुत्री) के निकलने पर तत्काल ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं।<sup>18</sup> अंतिम समय में पुरुष को छीक और स्त्री को जैभाई आने से मृत्यु होती है।<sup>19</sup> अथवा आदिपुराण<sup>20</sup> एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक<sup>21</sup> के अनुसार आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई और स्त्री को छीक आने से मृत्यु होती है।

भोगभूमि में नर-नारी दोनों के शरीर शरद ऋतु के मेषों समान स्वयं ही आमूल विलीन हो जाते हैं।<sup>22</sup> अथवा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक<sup>23</sup> के अनुसार उनके शरीर विद्युत के समान विघट जाते हैं। यहाँ उत्पन्न हुये जीवों का कदलीघात मरण अथवा आयु का अपवर्तन नहीं होता।<sup>24</sup> इनका शरीर सप्त धातुमय होते हुये भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता। अशुचिता से रहित होने के कारण उनके शरीर से मूत्र तथा विष्टा का आस्रव नहीं होता<sup>25</sup> आदिपुराण के अनुसार उन लोगों को पसीना भी नहीं आता।<sup>26</sup> यहाँ शरीर में रोग भी नहीं होते, कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सिंह और हाथी भी साथ रहते हैं, लोगों का लावण्य रंग और विलास से परिपूर्ण वय और यौवन भी नष्ट नहीं होते।<sup>27</sup>

देखो ! पुण्योदय का यह ठाट देखकर हमारा मन ललचाता है; किन्तु भाई ! हमने भी आत्मज्ञान के अभाव में इस पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते हुये भोगभूमि में अनन्त बार जन्म लिया है। उत्तम, मध्यम और जघन्य सभी भोगभूमियों में हम अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं।

अनेक बार भावलिंगी मुनिराजों को आहार दान देने के बाद भोगभूमि में जन्म लेकर भी यह जीव स्वयं सम्यक्त्व से शून्य रहा। वहाँ अनन्त बार तीन पल्य की आयु तक बाह्य अनुकूलतामय जीवन भी पारमार्थिक सुख के बिना दुख से ही बीता।

भोगभूमियों के सभी जीव स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिये मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, इनकी स्वर्ग के सिवाय और कोई गति नहीं होती।<sup>28</sup> यहाँ के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिशी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंच मरकर सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।<sup>29</sup> इससे ऊपर नहीं जाते।

इन कालखण्डों में जन्म लेने वाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवन यापन के लिये किसी भी प्रकार के कृषि, मत्सि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा असि आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति से सहजरूप से प्राप्त भोग्य सामग्री का उपभोग करना ही उनका कार्य रहता है। सभी सामग्री उनको संकल्प मात्र से कल्पवृक्षों द्वारा प्राप्त हो जाती है।

**कल्पवृक्षों का स्वरूप -**

भोगभूमि में उत्पन्न हुये जीवों को मनवांछित पदार्थ कल्पवृक्ष से प्राप्त

हो जाते हैं। पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देने में समर्थ होने से ही ज्ञानियों ने इसकी कल्पवृक्ष संज्ञा सार्थक कही है।<sup>30</sup> इन भोगभूमियों में जन्मे युगल कल्पवृक्षों द्वारा दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया द्वारा बहुत प्रकार के शरीर बना कर अनेक भोग भोगते हैं।<sup>31</sup> इनके भोगों की बाहुल्यता बताते हुये आचार्य यतिवृषभदेव लिखते हैं - 'जुगलाणि अणंतगुणं, भोगं चक्रहर भोग लाहादो।'<sup>32</sup> अर्थात् ये युगलिया जीव चक्रवर्ती के भोग-लाभ की अपेक्षा अनन्त गुणे भोग भोगते हैं। चक्रवर्ती तो कर्म भूमि में होते हैं, उन्हें विशेष कर्म करना पड़ता है, जब कि भोगभूमिया जीवों को सर्व सुविधायें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, उन्हें मनवांछित समस्त भोग सामग्री प्राप्त होती है; फिर भी आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं कि -

'सुलहेसु वि णो तिसि तेसि पंचक्खविसासु'<sup>33</sup> अर्थात् पंचेन्द्रिय भोगों की अतिसुलभता भी उन्हें तृप्ति प्रदान नहीं करती। कहने का तात्पर्य यह है कि भोगों की बाहुल्यता इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

भोग सामग्री इकट्ठी करने के पहले हमें भी यह विचार करना चाहिये कि भोगों में सुख है भी या नहीं ? 'इन्में सुख है ही नहीं' - यदि ऐसी प्रतीति हो जाये तो भोगों की वासना मिटे बिना न रहे। वर्तमान में हम कितनी भी भोग सामग्री एकत्रित कर लें, वह भोगभूमि की तुलना में अत्यल्प ही होगी; अतः विचार करना कि भोगभूमि में इतनी अनुकूल सामग्री में भी तृप्ति नहीं हुई तो अब इस अल्प सामग्री से तृप्ति कैसे होगी ? अतः भोग सामग्री से दृष्टि हटाकर अपने स्वभाव को देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

जीवन पर्यंत भोगी जाने वाली ये समस्त भोग सामग्री उनको दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। जैन आगमों में इनकी 10 जातियाँ बताई गई हैं।

ये सभी वृक्ष अपने-अपने नाम के अनुसार ही फल प्रदान करने वाले हैं। तिलोयपण्णती<sup>34</sup> एवं लोकविभाग<sup>35</sup> में इनका विस्तृत स्वरूप बताया है।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय काल में जीवों को प्राप्त सभी अनुकूलतायें इन कल्पवृक्षों के द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सामान्यरूप में तीनों भोग भूमियों में भोग सामग्री की बाहुल्यता है, भोगों की ही प्रधानता रहती है, फिर भी तीनों के स्वरूप एवं परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन को हम पृथक्-पृथक् देखते हैं

**अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा-सुषमा) -**

यह काल उत्तम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ उत्तरकुरु एवं देवकुरु नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं। ध्यान रहे, शट् कालों का परिवर्तन भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के भी सभी खण्डों में नहीं होता, यह परिवर्तन इन क्षेत्रों के मात्र आर्यखण्डों में ही होता है। म्लेच्छ खण्डों की व्यवस्था को आगे 'काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र' शीर्षक में बताया गया है।

यह सुषमा-सुषमा नामक पहला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का कहा गया है। इस काल में भूमि रज, धूम, दाह और हिम से रहित साफ-

सुथरी, ओलावृष्टि तथा बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्ग से रहित, निर्मल दर्पण के समान, निन्द्यपदार्थों से रहित दिव्य बालुकामय होती है, जो तन-मन और नेत्रों को सुख उत्पन्न करती है।<sup>44</sup> चारों ओर पंच वर्ण युक्त, मृदुल एवं सुगन्ध से परिपूर्ण सुन्दर छोटे-छोटे घास के मैदान होते हैं। झील, तालाब, बापिका तथा नदियाँ स्वच्छ शीतल जल से परिपूर्ण तथा मकरादि जलचर जीवों से रहित होती हैं और उन्हीं जलाशयों के किनारे रत्नों की सीढ़ियों से युक्त शैल्या एवं आसनों के समूह से परिपूर्ण भोगभूमियों के प्राकृतिक भवन, प्रासाद आदि आवास-स्थल बने होते हैं।<sup>45</sup>

इस काल में शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डाँस, मच्छर और द्रुमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नियम से नहीं होते। यहाँ असंज्ञी भी नहीं होते, स्वामी और भृत्य का भेद भी नहीं होता, कलह एवं भीषण युद्ध आदि तथा ईर्ष्या और रोग आदि भी नहीं होते। यहाँ अन्धकार नहीं होने से दिन-रात का भेद नहीं है। गर्मी और सर्दी की वेदना भी नहीं है। निन्दा, परस्त्री स्मरण और परधन हरण आदि दुष्कृत्य भी यहाँ नहीं होते।<sup>46</sup>

इस काल में उत्पन्न हुये युगल चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं।<sup>47</sup> इनके शरीर की ऊँचाई 6000 धनुष (तीन कोस) एवं आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। पुरुष एवं स्त्री दोनों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ होती हैं। यहाँ जन्मे पुरुषों के लिये लोकविभाग में 'नवसहस्त्रेभविक्त्रमा' शब्द का प्रयोग करके नौ हजार हाथियों के सदृश बल की बात कही है।

ये किंचित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्याप्त, मार्देव और आर्जव गुणों से संयुक्त, मन्दकशायी, सुशील होते हैं। इनका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त और समचतुरस्र संस्थान वाला होता है। ये उदित होते हुये सूर्य सदृश तेजस्वी, कबलाहार करते हुये भी मल-मूत्र से रहित होते हैं। नर-नारी के अतिरिक्त इनका और कोई परिवार नहीं होता।<sup>48</sup>

उत्तम मुकुट को धारण करने वाले यहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते हैं और मणिमय कुण्डलों से विभूषित कपोलों वाली स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश अत्यन्त सुन्दर होती हैं।<sup>49</sup>

ऐसे उत्तम अनुकूलताओं वाले काल में भी हम अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं; किन्तु आत्मभान बिना अशान्त ही रहे।

इस काल में आयु पूर्ण होने से 9 माह पूर्व ही स्त्री को गर्भ धारण होता है। तथा युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर स्त्री-पुरुष दोनों का मरण हो जाता है। नवजात बालक-बालिका के शैल्या पर सोते हुये अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन व्यतीत हो जाते हैं, पश्चात् तीन दिन में वे बैठना सीख जाते हैं, फिर तीन दिन तक अस्थिर गमन और अगले तीन दिनों में दौड़ने लगते हैं। फिर क्रमशः कलागुणों की प्राप्ति, तरुण अवस्था और सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता में तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं।<sup>50</sup> इसप्रकार उत्तम भोगभूमि में जन्मे मनुष्य मात्र 21 दिनों में यौवन से परिपूर्ण<sup>51</sup> होकर सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारणों की चर्चा करते हुये आचार्य यतिवृषभ<sup>52</sup>

ने तीन कारण बताये हैं -

- (1) जाति स्मरण ज्ञान
- (2) देवों द्वारा प्रतिबोध
- (3) चारणऋद्धि धारी मुनिराज का सदुपदेश।

ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावकोचित व्रत संयम नहीं होते।<sup>53</sup>

जैसे-जैसे सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल व्यतीत होता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य, तिर्यचों का शरीर, आयु, बल, ऋद्धि आदि भी कम होते रहते हैं। इस प्रकार चार कोड़ाकोड़ी सागर में यह काल पूर्ण हो जाता है। हमने अतीत में अनंत बार इस प्रकार का काल सुख से दूर रहकर ही बिताया है।

### अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) -

यह काल मध्यम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हरि क्षेत्र<sup>54</sup> एवं रम्यक् क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं।

तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा नामक इस दूसरे काल के प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई 4000 धनुष (दो कोस), आयु दो पल्य और शरीर की प्रभा पूर्णचन्द्र सदृश होती है। इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। स्त्रियाँ अप्सराओं सदृश और पुरुष देवों सदृश होते हैं। इस काल में मनुष्य समचतुरस्र संस्थान से युक्त होते हुए दो दिन बाद तीसरे दिन बहेड़ा फल बराबर अमृतमय आहार करते हैं।<sup>55</sup>

जन्म के उपरान्त युवा होने तक का जो क्रम उत्तम भोगभूमि में 3-3 दिन के अन्तराल से सात चरणों में बताया गया था, वही क्रम यहाँ मध्यम भोगभूमि (सुषमा नामक दूसरे काल) में 5-5 दिन के विकास क्रम में होता है। अर्थात् बालकों के शैल्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता - इनमें प्रत्येक अवस्था में पाँच-पाँच दिन लगते हैं।<sup>56</sup> इस प्रकार यहाँ के जीव जन्म के पश्चात् मात्र 35 दिन में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।

भोगभूमि संबंधी शेष वर्णन उत्तम भोगभूमि के समान ही है। इस काल के प्रारंभ से अंत तक की परिस्थितियों में भी अवसर्पिणी काल होने से बल, आयु, शरीर आदि का ह्रास देखा जाता है। इस प्रकार तीन कोड़ाकोड़ी सागर व्यतीत होने पर यह काल समाप्त हो जाता है।

### अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा-दुषमा) -

यह काल जघन्य भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हैमवत क्षेत्र एवं हैरण्यवत क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं। यहाँ भी सम्पूर्ण कार्य कल्पवृक्षों से ही सम्पन्न होते हैं।

तिलोयपण्णत्ती<sup>57</sup> एवं आदिपुराण<sup>58</sup> में इस काल का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि सुषमा-दुषमा नामक यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार धनुष (एक

कोस), आयु एक पल्य और वर्ण प्रियंगु फल सदृश होता है। इस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठ भाग में चाँसठ हड्डियाँ होती हैं। यहाँ के मनुष्य एक दिन के अन्तराल से आँवले बराबर अमृतमय आहार का ग्रहण करते हैं।

इस काल में जन्मे युगल का शैव्या पर अंगूठा चूसने में 7 दिन का काल व्यतीत हो जाता है। शेष परिस्थितियाँ - बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता - इन सब अवस्थाओं में भी क्रमशः सात-सात दिन लगते हैं।<sup>17</sup> इस प्रकार इस काल में उत्पन्न हुये जीवों में मात्र 49 दिन में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है।

यहाँ सभी जीवों को अपने पुण्य प्रमाण कल्पवृक्षों से अनुकूलताओं की प्राप्ति होने के कारण कोई चोर नहीं होता। यहाँ किसी की किसी से दुश्मनी नहीं होती। यहाँ शीत, आताप, प्रचण्ड वायु एवं वर्षा नहीं होती, इसलिये प्राकृतिक वातावरण मनोरम रहता है।

भोगभूमि के तीनों कालों में जिस प्रकार मनुष्यों के युगल कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारों से सन्तुष्ट होकर प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं, उसीप्रकार सन्तुष्ट चित्त के धारक तिर्यचों के जोड़े भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। उस समय कहीं सिंहों के युगल, कहीं हाथियों के युगल, कहीं ऊँटों के युगल, कहीं शूकरों के युगल और कहीं मद से धीमी चाल चलने वाले व्याघ्रों के युगल क्रीड़ा करते हैं। कहीं मनुष्यों के बराबर आयु को धारण करने वाले गाय, घोड़े और भैंसों के जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते हैं।<sup>18</sup> वहाँ रहने वाले व्याघ्रादि भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यच मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं। मनुष्यों के समान तिर्यचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं।<sup>19</sup>

इन कालों में पुरुष स्त्री को आर्या कहकर और स्त्री पुरुष को आर्य कहकर पुकारती है। आर्या और आर्य भोगभूमिज स्त्री-पुरुषों के साधारण नाम हैं। उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है। वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण नहीं होते और न ही असि-मसि आदि षट्कर्म होते हैं। वहाँ न सेवक-स्वामी का सम्बन्ध होता है और न वेपथारी साधु ही। वहाँ के प्राणी सब विषयों में मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु। वे सभी स्वभाव से ही अल्पकशायी होते हैं।<sup>20</sup>

इस प्रकार भोगभूमि का काल उत्तम से मध्यम एवं जघन्य होकर अब समापन की ओर बढ़ता है। इसमें लगभग 9 कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हो जाता है। तृतीय काल के अन्त में धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की फलदान सामर्थ्य कम होने लगती है। अब युग परिवर्तन होना है, भोगभूमि समाप्त होगी और कर्मभूमि का प्रारंभ होगा। इस संधि काल में सृष्टि में बहुत बड़े प्राकृतिक परिवर्तन होने लगते हैं, इनसे भयभीत प्रजा की समस्याओं को दूर करने के लिये कुल परम्परा से धरातल पर विशिष्ट पुण्यशाली महापुरुषों का जन्म होता है, जिन्हें जैन परम्परा में कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

#### कुलकर व्यवस्था -

भोगभूमि के अंतिम चरण में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों की भूमि पर अत्यन्त युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन

होते हैं। इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं भयभीत मानव जाति को, इन परिवर्तनों के अनुकूल सामंजस्य होने का उपदेश देने वाले कुछ महापुरुषों का जन्म तृतीय काल के अंत में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में होता है, जिन्हें जैन ग्रन्थों में मुख्यरूप से कुलकर कहकर पुकारा है, हिन्दू पुराणों में इनके लिये मनु शब्द का प्रयोग मिलता है। जैन आगमों में कहा है कि जब चतुर्थ काल प्रारंभ होने में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहता है, तब क्रम से 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।

सुषमादुषमा नामक तीसरा काल समाप्त होने में जब पल्य का आठवाँ भाग प्रमाण काल शेष रह गया तथा कल्पवृक्ष भी क्रम-क्रम से कम होने लगे तब इस भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा में गंगा और सिन्धु नदियों के बीच आर्यखण्ड में 14 कुलकरों की उत्पत्ति हुई।<sup>21</sup> ये प्रजा के जीवन जीने के उपाय का मनन करने अर्थात् जानने से मनु तथा आर्य पुरुषों के कुलों की रचना करने से कुलकर कहलाते हैं, इन्होंने अनेक वर्ष (कुल) स्थापित किये थे, अतः कुलों को धारण करने से कुलधर हैं तथा युग के आदि में होने से ये युगादिपुरुष भी कहे जाते हैं।<sup>22</sup> आचार्य यतिवृषभ<sup>23</sup> कहते हैं - ये सब कुलों के धारण करने से कुलधर नाम से और कुलों के करने में कुशल होने से कुलकर नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हैं। वे इनकी मनुसंज्ञा की सार्थकता बताते हुये कहते हैं - ये अपने अवधिज्ञान एवं जातिस्मरण ज्ञान से भोगभूमिज मनुष्यों को जीवन के उपाय बताते हैं, इसलिये मुनिन्द्रों द्वारा मनु कहे जाते हैं।<sup>24</sup> स्थानांग सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेव<sup>25</sup> ने लिखा है कि कुल की व्यवस्था का संचालन करने वाला प्रकृत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति कुलकर कहलाता था।

चौदह कुलकरों के नाम त्रिलोकसार<sup>26</sup> एवं आदिपुराण<sup>27</sup> के अनुसार इसप्रकार हैं - प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमकर, क्षेमन्धर, सीमकर, सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुस्मानु, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय।

त्रिलोकसार<sup>28</sup> एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञामिसूत्र<sup>29</sup> में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर बताया है। लोकविभाग<sup>30</sup> एवं आदिपुराण<sup>31</sup> में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत को भी पन्द्रहवाँ एवं सोलहवाँ कुलकर के रूप में स्वीकार किया है, इन सभी कुलकरों के लिये आदिपुराण में मनु शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

ये सभी कुलकर पूर्वभ्रम में विदेह क्षेत्रों में उच्चकुलीन महापुरुष थे, वहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले ही भोगभूमि की आयु बांधकर तीसरे काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये।<sup>32</sup> इन 14 कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञान के धारक थे।<sup>33</sup> अतः अपने विशिष्ट ज्ञान की सामर्थ्य से प्रजा की विभिन्न समस्याओं का समाधान किया करते थे।

भोगभूमि में सदैव कल्पवृक्षों का प्रकाश रहता था; अतः सूर्यचन्द्रादि विमान दिखाई नहीं देते थे। अब कल्पवृक्ष समाप्त हो जाने से वे सूर्यचन्द्रादि दिखाई देने लगे, उन्हें देखकर लोगों को भयंकर भय उत्पन्न हुआ। भोगभूमि में पुत्र-पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का मरण हो जाता था, वे लोग बच्चों का मुख नहीं देखपाते थे, अब बच्चों का मुख देखकर डरने लगे - इस प्रकार की अनेक समस्याएँ

भोगभूमि के समापन के समय उत्पन्न होने लगती है, जिनका समुचित समाधान कुलकरों के माध्यम से किया जाता है।

उस समय अपराधी को यदि इतना कह दिया जाता था कि 'हा' अर्थात् ये क्या किया ? बस इतना शब्द मात्र अपराधी के लिये सजा का कार्य करता था। इससे बड़ी सजा के रूप में मकार दण्ड व्यवस्था प्रचलित हुई। जिसमें अपराधी को 'हा' के अतिरिक्त 'मा' कहा जाता था। 'मा' अर्थात् अब मत करना। सबसे बड़ी सजा थी - 'धिक्' अर्थात् धिक्कार है। इस प्रकार कुलकरों के समय हकार, मकार और धिक्कार (हा-मा-धिक्) - ये तीन नीतियाँ दण्ड के रूप में प्रचलित हुईं। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता चला गया, त्यों-त्यों मानव के अन्तर्मानस में परिवर्तन होता गया और अधिकाधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई।

कुल परम्परा से हुये चौदह कुलकरों के सामने उपस्थित विविध प्रकार की समस्याओं/परिस्थितियों और उनके उपदेश द्वारा दिये गये विविष्ट समाधान को तिलोयपण्णती<sup>10</sup> में 83 गाथाओं में, हरिवंशपुराण<sup>11</sup> में 46 श्लोकों में तथा आदिपुराण<sup>12</sup> में लगभग 100 श्लोकों में बहुत विस्तार से बताया है, जो मूलतः पठनीय है।

#### अवसर्पिणी के अंतिम तीन काल (कर्म भूमि) -

जिस भूमि में अंसि, मंसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य आदि कर्म की प्रधानता हो, वह कर्मभूमि है। इसके अन्तर्गत जिन दुःशामादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग कृषि आदि षट्कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जैन परम्परानुसार वर्तमान कल्पार्द्ध में कर्मभूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक राजा ऋषभदेव थे। उन्होंने ही जीविकोपार्जन के लिये भारतवासियों को सर्वप्रथम षट्कर्मों का उपदेश दिया। अंतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत भी सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल में ही उत्पन्न हुये। इसी काल में ऋषभदेव का निर्वाण भी हो गया। यद्यपि तृतीय काल भोगभूमि का काल है, तथापि इस काल के अंतिम चरणों में ही कर्मभूमि का प्रारंभ हो गया था।

#### अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा-सुषमा) -

अवसर्पिणी काल के प्रारंभ से 9 कोड़ाकोड़ी सागर तक चलता हुआ भोगभूमि का काल समाप्त होने के पश्चात् 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42000 वर्ष कम प्रमाण वाला दुषमा-सुषमा नामक चौथा काल प्रारंभ होता है। यह काल ऋषभदेव के निर्वाण जाने के 3 वर्ष, 8 माह 15 दिन पश्चात् प्रारंभ हुआ।<sup>13</sup>

इस काल में कल्पवृक्षों का पूर्णतः अभाव होता है और उनके स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्वयमेव उगने लगती हैं। पहले तो मानव जीवन इन्हीं पर आधारित रहा, किन्तु धीरे-धीरे जब इनका भी अभाव होने लगा तब मानव ने कृषि आदि श्रमपूर्ण कार्यों से अपनी आवश्यकतानुसार उनका उत्पादन आदि प्रारम्भ कर दिया। कृषि आदि षट् कर्मों की मुख्यता से ही इस काल को कर्मभूमि का काल कहा गया है।

इस काल के प्रारंभ में उत्कृष्ट आयु 1 कोटि पूर्व की होती है, शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) 525 धनुष तथा पृष्ठ भाग की हड्डियाँ अड़तालीस होती हैं।<sup>14</sup> लोकविभाग में इनकी उत्कृष्ट ऊँचाई 500 धनुष बताई है।<sup>15</sup> इनकी उत्कृष्ट आयु लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर काल तक क्रमशः घटते-घटते अन्त में 120 वर्ष रह जाती है। कर्म भूमि के सभी मनुष्य, तिर्यचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।<sup>16</sup>

#### तरेसठ शलाका पुरुष -

इस चतुर्थ काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में पुण्योदय से मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुष - 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण उत्पन्न होते हैं।<sup>17</sup> ये सभी पदवियाँ सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होती हैं। पश्चात् इनमें से नरक जाने वालों के सम्यक्त्व छूट जाता है; किन्तु वे भी भविष्य में कभी न कभी पुनः सम्यक्त्व लेकर मोक्ष अवश्य जाते हैं।

तीर्थंकर - जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं, समवशरण आदि विभूतियों से युक्त होते हैं और जिनके तीर्थंकर नामकर्म<sup>18</sup> नाम का महापुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। चार घातिया कर्मों का अभाव होने से इनकी अरिहंत संज्ञा है। इनके जीवन में सर्वोत्कृष्ट पुण्योदय दिखाई देता है; इसलिये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इनके लिये पुण्यफलां अरहंता<sup>19</sup> शब्द का प्रयोग किया है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर होते हैं। ये सभी जैन धर्म के प्रवर्तक हैं, सिद्धान्तों को बताने वाले हैं; बनाने वाले नहीं हैं। ये प्राणी मात्र को समान बताकर, सबके प्रति समभाव का उपदेश देते हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र तीर्थंकर का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखते हैं -

'तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वातीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः।'<sup>20</sup> अर्थात् संसार से तारने के कारणभूत हो, वह तीर्थ है, ऐसा तीर्थ आगम है, उसके कर्ता तीर्थंकर हैं। धर्मतीर्थ को चलाने वाले होने से ये तीर्थंकर कहलाते हैं। इनकी बहुत बड़ी धर्मसभा होती है, जिसे समवशरण के नाम से जाना जाता है। आचार्य यतिवृषभ<sup>21</sup> कहते हैं - इसमें पूर्वादि प्रदक्षिणा रूप से 12 कोठे (सभा) होते हैं। जिनमें उनके प्रमुख शिष्य गणधर एवं मुनिराज, चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ, आर्थिका व स्त्रियाँ, पुरुष एवं तिर्यच बैठकर धर्मोपदेश का लाभ प्राप्त करते हैं। तिर्यच गति के हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादि भी परस्पर बैर को छोड़कर समवशरण में मित्र भाव से बैठते हैं।

हम भी अनन्त बार समवशरण में गये, तीर्थंकर परमात्मा की वाणी भी सुनी, उनकी महिमा भी आई; किन्तु फिर भी अपने निज ज्ञायक की महिमा एवं उसका अवलम्बन न होने से संसार समुद्र से पार होने की राह न मिल सकी।

चक्रवर्ती - प्रत्येक चतुर्थ काल में 12 चक्रवर्ती होते हैं। वर्तमान चतुर्थ काल में भरत क्षेत्र में भरत, सगर, मधवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ, सुभीम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त - ये 12 चक्रवर्ती<sup>22</sup> छह खण्डरूप पृथ्वीमंडल को जीतने

वाले परमप्रतापी पुरुष हुये हैं।

इन सभी चक्रवर्तियों का वैभव तिलोयपण्णती में 4/1382 से 1409 तक बहुत विस्तार से बताया है। इनके 96000 रानियाँ, 84 लाख हाथी, 18 करोड़ घोड़े, कई करोड़ विद्याधर, 88000 म्लेच्छ राजा, 32000 मुकुटबद्ध राजा, इतनी ही नाट्यशालायें, इतनी ही संगीत शालायें, 14 रत्न, 9 निधियाँ, 32000 अंगरक्षक देव, छत्र, 32 चँबर आदि होते हैं। इन समस्त दिव्य वैभव से युक्त होकर वे दशांग भोग भोगते हैं।

ध्यान रहे, चक्रवर्ती यदि राज्य भोग में मरे तो नियम से सातवें नरक में जाते हैं और यदि राज्य का त्याग कर मुनिव्रत अंगीकार करे तो ऊर्ध्वगामी/स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ये सभी भोग हमें देखने/भोगने में तो बहुत अच्छे लगते हैं; किन्तु हैं बहुत खतरनाक। पंचेन्द्रिय विषय भोगों का भोगना अथवा भोगने के परिणामों का फल तो अधोगति ही है; अतः सावधान रहकर इनसे विरक्त होने की भावना भाना चाहिये।

**बलदेव, नारायण व प्रतिनारायण** - वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तीर्थंकर एवं चक्रवर्तियों के समान ही विशिष्ट पुण्यशाली 9 बलदेव, 9 नारायण एवं 9 प्रतिनारायण हुये हैं। तिलोयपण्णती<sup>93</sup> में उन सभी के नामों का उल्लेख निम्नानुसार मिलता है - विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म - ये नौ बलदेव हुये हैं। त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण - ये नौ नारायण (विष्णु) हैं तथा अश्वघ्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध - ये नौ प्रतिनारायण (प्रतिशत्रु) हैं। इनके पर्यायान्तर के संबंध में आचार्य यतिवृशभ का मूल कथन निम्नानुसार है -

‘उड्डंगामी सब्बे बलदेवा केसवा अधोगामी’<sup>94</sup> अर्थात् सभी बलदेव नियम से ऊर्ध्वगामी (स्वर्ग या मोक्षगामी) होते हैं और सभी नारायण नियम से अधोगामी (नरक जाने वाले) होते हैं तथा ‘तद्देव पडिसत्तू’<sup>95</sup> शब्द का प्रयोग कर वे प्रतिनारायण की भी नियम से अधोगति बताते हैं।

इनमें नारायण नियम से बलदेव के छोटे भाई होते हैं।<sup>96</sup> प्रतिनारायण तीन खण्ड का शासक होता है। जैन आगमों<sup>97</sup> के अनुसार सभी प्रतिनारायणों की मृत्यु नारायणों के द्वारा ही होती है। उसे मारकर ही नारायण तीन खण्डों का अधिपति होता है, उसे अर्द्धचक्री कहा जाता है। रावण प्रतिनारायण था, अतः उसका वध बलदेव राम ने नहीं, नारायण लक्ष्मण ने किया था। पद्मपुराण<sup>98</sup> में रावण एवं लक्ष्मण के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उक्त सभी शालाका पुरुष कर्मभूमि में ही होते हैं; क्योंकि इनके जीवन में विशिष्ट कर्म का उदय होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी<sup>99</sup> कर्मभूमि ही उसे कहते हैं, जहाँ शुभ एवं अशुभ कर्मों का आश्रय हो। यद्यपि तीन लोक में सर्वत्र कर्म का आश्रय है, फिर भी इससे कर्मभूमि में उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि इनके प्रकर्ष रूप से कर्म का आश्रय है। सातवें नरक को प्राप्त करने वाले अशुभ कर्म का भरतादि क्षेत्रों में

ही अर्जन किया जाता है। इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करने वाले पुण्य कर्म का उपार्जन तथा पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ भी यहीं पर होता है, इसलिये भरतादि (भरत, ऐरावत, विदेह) की कर्मभूमि संज्ञा सार्थक है।

**अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) -**

भगवान महावीरस्वामी का निर्वाण होने के तीन वर्ष आठ माह पन्द्रह दिन पश्चात् पंचम काल का प्रारंभ हुआ।<sup>100</sup> यह पंचम काल 21000 वर्ष प्रमाण है, इसके प्रारंभ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु 120 वर्ष, ऊँचाई 7 हाथ और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस कही गई हैं।<sup>101</sup>

भगवान महावीर निर्वाण के बाद भी इस पंचम काल के प्रारंभ में चतुर्थ काल के जन्मे अनेक लोगों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान महावीर के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी एवं जम्बूस्वामी - ये तीन अनुबद्ध केवली<sup>102</sup> हुये। इस युग में अंतिम मोक्ष जाने वालों में श्रीधर केवली का नाम आता है, वे कुण्डलपुर-दमोह से मोक्ष गये।<sup>103</sup> केवलियों के पश्चात् द्वादशांग के ज्ञाता पाँच श्रुतकेवली हुये।<sup>104</sup> अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य जिनदीक्षा अंगीकार करने वाले अंतिम मुकुटबद्ध शासक थे। भारतीय इतिहास में भी चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक आदि का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु इनकी मृत्यु कहाँ/कैसे हुई, इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।<sup>105</sup>

वीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद तक अंग एवं पूर्वों के ज्ञाता मुनिराजों द्वारा श्रुत परम्परा चलती रही, फिर आचार्य लोहाय के पश्चात् कोई आचार्य के धारक नहीं हुये। किन्तु फिर भी आगे 20,317 वर्षों तक (683+20317) श्रुतीर्थ परम्परा हीयमानरूप से चलती रहेगी। तत्पश्चात् पंचम काल की समाप्ति पर श्रुत का व्युच्छेद हो जायेगा। 1106 बीच-बीच में भी धर्म को विध्वंस करने की चेष्टा करने वाले कल्की एवं उपकल्की होते रहेंगे।

**कल्की एवं उपकल्की -**

जैनगम में कल्की नाम के राजा का उल्लेख जैन यतियों पर अत्याचार करने के लिये बहुत प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णती में इस पंचम काल में 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होने का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक कल्की 1000 वर्ष के अन्तराल से तथा उसके 500 वर्ष पश्चात् उपकल्की होता है। 1107 वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् इन्द्रपुर में कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष एवं राज्यकाल 42 वर्ष रहा। 1108 वह अपने राज्यकाल में अतिलोभी होकर मुनिराज के आहार में से भी प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप मांगने लगा। मुनिराज अन्तराय जानकर निराहार चले गये। उनको अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

इस घटना को कोई असुरदेव अपने अवधिज्ञान से देखकर धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। उस कल्की का पुत्र अजितंजय ‘रक्षा करो..रक्षा करो.. कहकर’ देव के चरणों में नमस्कार करता है, और वह देव ‘धर्मपूर्वक राज्य करो’ कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक लोगों में धर्म की वृत्ति होती है, फिर वह पुनः

हीन होती जाती है।<sup>109</sup> ऐसी ही परिस्थिति प्रत्येक कल्की एवं उपकल्की के काल में बनती है। प्रत्येक कल्की के प्रति दुषमा (पंचम) कालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान होता है।

इस पंचम काल के प्रारंभ से ही विविध वनस्पतियाँ नीरस हो जाती हैं। मनुष्य अपने कुलक्रम से प्राप्त शील, सत्य, बल, तेज, तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं, स्वयं मिथ्यात्व और मोह से ग्रस्त रहने के कारण मर्यादा और लज्जा से रहित हो जाते हैं। इस काल के मनुष्य विनय विहीन, चिन्तायुक्त, दम्भ, मद, क्रोध, लोभ एवं निर्दयता की मूर्ति दिखते हैं। इस काल में जीव पाप करते आते हैं और पापाचरण करते हुये ही जीवनयापन करते हैं।<sup>110</sup>

कुछ जीवों को पूर्व पुण्योदय से कुदान आदि के फल में बाहरी अनुकूलतायें भी प्राप्त होती दिखती हैं, फिर भी चित्त तो अशान्त ही रहता है। कुछ लोगों को जिनवाणी के अवलम्बन से तत्त्वाभ्यास करते हुये किंचित् शान्ति का अनुभव होता है, उनकी संख्या अत्यल्प है, वे विरले हैं।

इस पंचम काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों का अभाव होने के कारण यहाँ चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव (वैमानिक) और विद्याधर भी नहीं आते।<sup>111</sup>

#### अंतिम कल्की -

अभी वर्तमान में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में पंचम काल चल रहा है, धीरे-धीरे यहाँ धर्म, आयु और ऊँचाई आदि कम होते जायेंगे, पश्चात् अन्त में इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होगा। उस समय वीरांगज नामक एक भावर्लिगी मुनिराज, सर्वश्री नामकी आर्यिका, अग्नि और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे।

सर्वज्ञ कथित जिनागम में भविष्य की घटनाओं का नामोल्लेख सहित स्पष्ट निरूपण केवलज्ञान की विशिष्ट सामर्थ्य को बताता है। आगमों में प्रत्येक पंचम काल के अन्त में घटने वाली एक घटना का उल्लेख निम्नानुसार किया है -

एक दिन कल्की अपने मंत्री से कहता है कि मंत्रिवर ! ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है, जो मेरे वश में न हो। तब मंत्री कहता है कि राजन् ! एक मुनि आपके वश में नहीं है। तब कल्की राजा की आज्ञा होती है कि तुम उस मुनि के आहार में प्रथम ग्रास को शुल्क के रूप में ग्रहण करो। तत्पश्चात् कल्की की आज्ञा से प्रथम ग्रास माँग जाने पर मुनीन्द्र तुरंत उसे देकर और अंतराय करके वापस चले जाते हैं और अवधिज्ञान को प्राप्त होकर उसी समय आर्यिका, श्रावक-श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त से कहते हैं कि अब दुषमा काल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है।

तब चारों जन, चार प्रकार के आहार आदि का त्याग कर देते हैं और कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र में रहते समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। मुनिराज एक सागरोपम की आयु लेकर तथा अन्य तीनों पत्योपम से कुछ अधिक आयु लेकर जन्मते हैं।<sup>112</sup>

उसी दिन मध्याह्न में असुरकुमार जाति का कोई देव कल्की को मार डालता है और सूर्यास्त समय से अग्नि नष्ट हो जाती है।

#### अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) -

अंतिम कल्की की मृत्यु के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल प्रारंभ होता है। यह भी 21000 वर्ष का होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से इसमें क्रमशः हास होते हुये छठे काल के अन्त में मनुष्यों की ऊँचाई मात्र एक हाथ प्रमाण तथा उत्कृष्ट आयु 15-16 वर्ष मात्र रह जाती है।<sup>113</sup>

इस काल में जन्मे जीवों का जीवन अत्यन्त दुःखमय बीतता है। इस काल में अग्नि न होने के कारण जीवों को कच्चा भोजन ही करना पड़ता है। धान्य आदि का उत्पादन बन्द हो जाने से वृक्षादि की मूल और मछली आदि ही उनका मुख्य आहार हो जाता है। इस काल के सभी जीव मौसाहारी होते हैं। ये मनुष्य मकान और बस्त्रों से रहित जंगलों में घूमते रहते हैं। पाप उदय से गूंगे, बहरे, अंधे, काणे, क्रूर, दरिद्री, काले, नंगे, कुबडे, हण्डकसंस्थान वाले, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित, दुर्गन्धित शरीर युक्त, पापिष्ठ, परिवाररहित, पशुओं के समान आचरण करने वाले होते हैं। आचार्य यतिवृषभ कहते हैं -

दुःखत्राण ताण कहिदुं, को सक्कइ एक्क जीहाए।<sup>114</sup>

अर्थात् उनके दुःखों को एक जिह्वा से कहने में कौन समर्थ है ? कोई नहीं।

पाप के फल में ऐसे काल में जन्म होता है और यहाँ रहकर भी निरन्तर पाप करने से पुनः अधोगति की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में तिलोवपण्णत्ती<sup>115</sup> में यह नियम बताया है कि - इस काल में जन्मे सभी जीव नियम से नरक-तिर्यंच गति से ही आते हैं और मरकर भी नरक-तिर्यंच गति में ही जाते हैं।

#### कल्पान्तकाल (प्रलय) -

कल्प काल का प्रारंभ उत्सर्पिणी से होता है तथा अवसर्पिणी के छठे काल की समाप्ति के साथ ही कल्प काल भी समाप्त हो जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को मिलाकर एक कल्प काल होता है। कल्प काल समाप्त होने में जब 49 दिन शेष बचते हैं, तब यहाँ के सर्व प्राणियों में भयोत्पादक प्रलय काल<sup>116</sup> प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम महागम्भीर, भीषण तूफान प्रारंभ होता है, जो वृक्षों एवं पर्वतों को चूर्ण कर देता है। आचार्य मानतुंग कहते हैं कि कल्पान्तकाल मरुता चलितचलेन<sup>117</sup> अर्थात् ये कल्पान्त काल की हवायें अचल (पर्वत) को भी चलित कर देती हैं। ऐसे भयंकर तूफान के समय सभी प्राणी महादुःखी होते हुये सुरक्षा के लिये शरण खोजते रहते हैं, किन्तु उनमें से पृथक्-पृथक् संयात एवं सम्पूर्ण 72 युगल<sup>118</sup> ही गंगा-सिन्धु नदियों की वेदी और विजयाई वन के मध्य गुफाओं आदि में सुरक्षा पाते हैं। इन्हीं स्थानों पर दयालु देवों और विद्याधरों<sup>119</sup> द्वारा भी संख्यात मनुष्य एवं तिर्यंचों को सुरक्षित पहुँचा दिया जाता है।

49 दिन तक चलने वाले इस प्रलय के दौर में भयंकर गर्जना युक्त

मेघों द्वारा सात-सात दिन तक निरन्तर क्रमशः बर्फ, क्षारजल, विषजल, धूम, घूलि, बज्र और अग्नि की वर्षा होती है, इससे भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित एक योजन वृद्धिगत भूमि जलकर नष्ट हो जाती है।<sup>120</sup>

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य वर्तमान उपलब्ध दुनिया को जैन मान्यतानुसार आर्यखण्ड की इस वृद्धिगत भूमि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह एक योजन अर्थात् लगभग 6000 किलोमीटर मध्य से ऊपर उठी हुई भूमि प्रलय के पश्चात् छठे काल के अन्त में पुनः समतल हो जायेगी।

तिलोयपण्णती में इस वृद्धिगत भूमि के जलकर नष्ट होकर पुनः समतल होने की बात तो कही है, परन्तु यह भूमि कब और कैसे वृद्धिगत हुई, इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं। यह अभी भी शोध का विषय है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक 4/13 पृष्ठ 563 में लिखा है कि काल के वर्ष से घट-बढ़ होकर पृथ्वी में ऊँचा-नीचा पना देखा जाता है। तिलोयपण्णती के प्रमाण अनुसार भी यह तो निश्चित ही है कि आर्यखण्ड की भूमि एक योजन वृद्धिगत हुई है। यह उठा हुआ भूभाग ही आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य अर्थ/पृथ्वी है।

#### उत्सर्पिणी के छह काल -

प्राणियों को प्राप्त अनुकूलताओं के हासरूप अवसर्पिणी के छह काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इससे विपरीत क्रम में उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इसके छह काल अवसर्पिणी से विपरीत क्रम में हैं तथा परिस्थितियाँ भी उसी अनुसार होती हैं। अवसर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल भोगभूमि के तथा अन्तिम तीन काल कर्मभूमि के होते हैं। जब कि उत्सर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल कर्मभूमि के तथा अन्तिम तीन काल भोगभूमि के हैं। अवसर्पिणी काल के अंत में 49 दिन तक कुवृष्टियों के माध्यम से सृष्टि में प्रलय होती है तथा उत्सर्पिणी काल में प्रारंभिक 49 दिन तक सुवृष्टियों के माध्यम से पुनः सृष्टि रचना प्रारंभ होती है। यहाँ सात-सात दिन तक पुष्कर, क्षीर, अमृत, रस, औषधि, सुगंध जलादि की वर्षा होने से वज्राग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है।<sup>121</sup>

शीतल गंध को ग्रहण कर गुफाओं में छिपे हुये मनुष्य और तिर्यच बाहर निकलने लगते हैं।<sup>122</sup> अभी इस काल में यहाँ अग्नि नहीं है, अतः उनका खान-पान रहन-सहन, आचरण आदि सब पशुओं जैसा ही होता है। फिर धीरे-धीरे आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, क्षमा, धैर्य आदि की वृद्धि होते हुये 21 हजार वर्ष का दुषमादुषमा काल और उसके बाद जब आगामी दुषमा काल के भी 20 हजार वर्ष व्यतीत होते हैं, तबतक मनुष्यों का आहारादि उसी प्रकार चलता रहता है।

#### उत्सर्पिणी काल में कुलकर -

जब दुषमा-सुषमा काल प्रारंभ होने में 1000 वर्ष शेष रहते हैं, तब इन भरत/ऐरावत क्षेत्रों की पृथ्वी पर पुनः 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।<sup>123</sup> आचार्य नेमिचन्द्र<sup>124</sup> चौदह के स्थान पर सोलह कुलकरों का उल्लेख करते हैं, वहाँ पद्म तथा महापद्म ये दो नाम अधिक हैं। ये सभी कुलकर जगत के प्राणियों को अग्नि को उत्पन्न करना, भोजन पकाकर खाना, विवाह करना, बन्धु परिवार आदि के साथ शिष्टाचार

पूर्वक रहना आदि बातों को शिक्षक की भाँति समझाते हैं।

उत्सर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर होते हैं। अन्तिम कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर होते हैं। 125 तीर्थंकर हमेशा दुषमा-सुषमा काल में ही होते हैं, यह अवसर्पिणी की अपेक्षा चौथा काल एवं उत्सर्पिणी की अपेक्षा तीसरा काल कहलाता है।

उत्सर्पिणी में होने वाले 24 तीर्थंकरों के नाम एवं उनके किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन हो चुका है अथवा किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन होगा - इसका भी नामालेख सहित विवेचन जैन आगमों में उपलब्ध है। आचार्य यतिवृषभ<sup>125</sup> एवं आचार्य नेमीचन्द्र<sup>127</sup> के अनुसार आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर महापद्म ने राजा श्रेणिक के भव में तथा 16 वें तीर्थंकर निर्मल ने श्रीकृष्ण के भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया।

इसप्रकार तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्रों के जन्म एवं कर्म सहित तृतीय काल पूर्ण होता है। उत्सर्पिणी का चौथा काल प्रारंभ होते ही एक ही समय में विकलेन्द्रिय प्राणियों के समूह एवं कुलभेद नष्ट हो जाते हैं तथा प्रथम समय में कल्पवृक्षों की भी उत्पत्ति हो जाती है।<sup>128</sup>

उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पंचम काल में मध्यम भोगभूमि तथा छठे काल में उत्तम भोगभूमि के समान रचना होती है। इन भोगभूमियों का स्वरूप अवसर्पिणी के कालों के समान ही है, अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ उत्तरोत्तर वृद्धि का काल है, वहाँ हास का काल था। इस प्रकार उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारंभ होता है।

आधुनिक इतिहासवेत्ताओं द्वारा कल्पित कृषि युग का सूत्रपात जैन कर्मभूमि व्यवस्था के प्रारंभ से माना जा सकता है। कर्मभूमि का प्रारंभ आदिमानव की स्थिति को प्रदर्शित करता है एवं उसका क्रमिक विकास सभ्य सुसंस्कृत मानव के रूप में वर्तमान में दिखाई देता है। फिर पुनः विनाश और फिर विकास इस प्रकार यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

#### कुछ सहज जिज्ञासायें ?

विविध आगम प्रमाणों के आधार से अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल के स्वरूप की चर्चा करने के उपरान्त भी इन विषयों को लेकर मन में कुछ जिज्ञासायें शेष रह जाती हैं, यहाँ उनका यथोचित समाधान करने का प्रयास किया जा रहा है।

#### वर्तमान में कौनसा काल - उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ?

जैन आगमों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। यह काल हास/गिरावट का काल होता है; परन्तु आज मानव जाति हर क्षेत्र में विकासोन्मुख ही नहीं, बल्कि विकासशील दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में आगमानुसार वर्तमान काल हास का काल (अवसर्पिणी) है - यह बात स्वीकार करना सहज नहीं है। इसे आज के भौतिकवादी युग में सिद्ध करना भी एक चुनौतीभरा कार्य है।

अष्टापद रिसर्च इंटरनेशनल फाउण्डेशन द्वारा दिनांक 15-16 दिसम्बर, 2012 को अहमदाबाद में आयोजित सेमिनार में जब मैंने

“अवसर्पिणी काल और वर्तमान दुनिया” विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया तो वहाँ मौजूद नासा एवं इसरो से जुड़े अनेक वैज्ञानिकों ने वर्तमान काल को अवसर्पिणी मानने में आपत्ति व्यक्त की। पत्र वाचन के उपरान्त अनेक सवाल-जवाब, तर्क-वितर्क हुये। उनका कहना था कि -

“वर्तमान में उत्सर्पिणी काल चल रहा है। वर्तमान काल हास का नहीं; विकास का काल है। यह विज्ञान का युग है। नई-नई मशीनें, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर, इंटरनेट इत्यादि की खोज मनुष्य की प्रगति की द्योतक हैं। आज के 100 वर्ष पहले लाइटे नहीं थी, आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे। मोबाइल, टेलीविजन, ए.सी आदि सुख-सुविधायें नहीं थी। पहले के लोगों का रहन-सहन और आज के लोगों की जीवन शैली में जमीन-आसमान का अंतर है, और यह अंतर विकास की ओर है; हास की ओर नहीं।”

उक्त बातें बौद्धिक स्तर पर सही प्रतीत होने पर भी यदि श्रद्धा के स्तर पर बात की जाये तो आगम की सत्यार्थता पर शंका नहीं की जा सकती; वह हमारे लिये शिरोधार्य है; अतः जरूरत है, इस दिशा में गहन चिंतन-मनन की।

आज विज्ञान का विकास हुआ दिखता है; परन्तु इनके द्वारा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का हास ही हुआ है। आज कैलकुलेटर से हिसाब लगाना बहुत आसान हो गया है; पर हमारे दिमाग उतने ही कमजोर हो गये हैं। छोटे-छोटे हिसाब के लिये भी हम कैलकुलेटर तलाशते हैं। आज मनोरंजन के साधनों में टी.वी ने सर्वोच्च स्थान बना रखा है; पर क्या इससे हमारे सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का हास नहीं हुआ है ?

वारिशिंग मशीन, मिक्सी आदि अनेक आधुनिक उपकरणों द्वारा यद्यपि घर के कार्यों में सुविधा हो गई है; परन्तु इससे हाथों से काम करने की क्षमता ही कम हुई है। आज शारीरिक संहनन/बल बहुत क्षीण हो गया है, हड्डियाँ काँच के समान हो गई हैं। मोबाइल, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट यद्यपि आज के समय में बहुत उपयोगी हैं, इनसे कार्य आसान हो गये हैं; पर क्या इनके बिना हम अपने आप को अपाहिज महसूस नहीं करते ?

विज्ञान द्वारा जो विकास दिखाई देता है, कहीं यह विकास विनाश की दस्तक तो नहीं है ? मार्च 2011 में रेडियेशन की वजह से जापान में हुई तबाही किससे छिपी है।

वस्तुतः अवसर्पिणी काल के सन्दर्भ में हास से तात्पर्य आयु, शरीर का उत्तेष (ऊँचाई), बाहुबल, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य, धैर्य इत्यादि के हास से है। मात्र भौतिक विकास उन्नति का सूचक नहीं है। वर्तमान में शारीरिक सामर्थ्य आदि की कमी के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी हास होता जा रहा है। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक पतन भी वर्तमान में अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करता है।

प्रथम आदि कालों में बताई गई मनुष्यों की ऊँचाई, आयु आदि पर विश्वास नहीं होता ? पत्थों और पूर्व में आयु का वर्णन और धनुषों में ऊँचाई की चर्चा काल्पनिक सी लगती है ?

जिनागम के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई

500 धनुष थी। एक धनुष चार हाथ का होता है और एक हाथ लगभग सवा फीट का। इस प्रकार उनकी ऊँचाई लगभग 2500 फीट की थी। दूसरे प्रकार से देखें तो शास्त्रों में 2000 धनुष का एक कोस बताया गया है। एक कोस में लगभग तीन किलोमीटर होते हैं, तदनुसार भी 500 धनुष का अर्थ लगभग तीन किलोमीटर होता है।

ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी। एक पूर्व में 70 लाख 56 हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक पूर्व की नहीं 84 लाख पूर्व की उनकी आयु थी।

जब हम इस प्रकार की बातें पढ़ते-सुनते हैं, तो एकाएक विश्वास नहीं होता, पर यदि काल परिवर्तन पर दृष्टि दी जाये तो इसमें काल्पनिक अथवा असम्भव लगने जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर स्वामी तक सभी तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई एवं आयु पर दृष्टि दें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष (2000 हाथ) और अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामी की ऊँचाई मात्र 7 हाथ अर्थात् लगभग पाँच फीट। इसी प्रकार ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व एवं महावीरस्वामी की मात्र 72 वर्ष। चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों की आयु, ऊँचाई आदि में भी इसी प्रकार का ग्राफ बनता है।

यह सब एकदम नहीं हुआ इसमें लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हुआ है। वर्तमान में हो रही शोध-खोज के अनुसार करोड़ों वर्षों पहले के प्राप्त अवशेषों आदि के आधार पर भी उनकी ऊँचाई आदि की सिद्धि हो जाती है। डायनासोर की खोज इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उस काल में इतने विशालकाय जीव/प्राणी इस धरातल पर हुआ करते थे। ऐसे अनेक उदाहरणों से उक्त बातों को सिद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रथमानुयोग एवं करणानुयोग में उपलब्ध इन बातों पर विश्वास भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल को सही रूप में समझने से ही होता है।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तिलोचपण्णत्ती, 4/318
2. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/4-5/पृ.191
4. आदिपुराण, 3/14
5. आचार्य पुष्पदन्त : महापुराण, भाग-1, संधि-2/8/पृ.31
6. त्रिलोकसार, गाथा 779
7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
8. तिलोचपण्णत्ती, 1/130
9. वही, 1/119-130 का सार
10. सर्वार्थसिद्धि, 3/38/439/पृ.174 का सार
11. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/7/पृ. 208 का सार

12. त्रिलोकसार, गाथा-102
13. कात्तिक्यानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, भावार्थ पृ.-56-57
14. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, प्रस्ता., पृ.-25 व भारतीय सृष्टिविद्या, पृ.-24
15. तिलोचपण्णत्ती, 4/320-323
16. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166-167
17. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
18. त्रिलोकसार, 781
19. लोकविभाग, 5/5-7
20. तिलोचपण्णत्ती, 4/1576-77
21. आदिपुराण, 3/19
22. वही, 3/21
23. पद्मपुराण, प्रथम भाग, 3/73
24. रँहट घटिका न्याय- जैसे रँहट की घड़ियाँ चक्रवत् घूमती हुई बार-बार ऊपर एवं नीचे आती-जाती हैं, उसी प्रकार अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है।
25. तिलोचपण्णत्ती, 4/1636
26. 'अवसर्पिणी न तेषां वै नचोत्सर्पिणी द्विज! नत्वेशाऽस्ति युगावस्थातेशु स्थानेषु समसु॥' - विष्णुपुराण, द्वि. अ. अ. 4/13 (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, प्र., पृष्ठ-26 से साभार)
27. युगलिया व बालक-बालिका युगल रूप में
28. तिलोचपण्णत्ती, 4/379-380
29. वही, 4/381
30. आदिपुराण, 3/42
31. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 3/31/पृ. 351/पं.4
32. तिलोचपण्णत्ती, 4/381
33. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 3/31/पृ. 351/पं.5
34. (1) तिलोचपण्णत्ती, 4/361 (2) तत्त्वार्थसूत्र, 2/53
35. तिलोचपण्णत्ती, 4/387
36. आदिपुराण, 3/31
37. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण, भाग-1, सन्धि-2/8, पृष्ठ-31
38. आदिपुराण, 3/43
39. तिलोचपण्णत्ती, 4/382
40. आदिपुराण, 3/38
41. तिलोचपण्णत्ती, 4/362
42. वही, 4/361 (पूर्वार्द्ध)
43. त्रिलोकसार, गाथा-790 (उत्तरार्द्ध)
44. तिलोचपण्णत्ती, 4/347-357
45. लोकविभाग, 5/14-23
46. तिलोचपण्णत्ती 4/324-325
47. वही, 4/326, 328-329
48. (1) तिलोचपण्णत्ती, 4/335-337 (2) लोकविभाग 5/29-30
49. आदिपुराण, 3/30
50. लोकविभाग, 5/11
51. वही, 5/26
52. तिलोचपण्णत्ती, 4/338-344
53. वही, 4/363
54. तिलोचपण्णत्ती, 4/383-384
55. 'दिवसैरेकविंशत्या पूर्यन्ते द्यौवनेन च।'-लोकविभाग, 5/25 (पूर्वार्द्ध)
56. तिलोचपण्णत्ती, 4/385
57. 'तेसुं सावय वद संजमो णत्थि' - वही, 4/390
58. 'शेषो विधिस्तु निष्पेशो हरिवर्षसमो मतः' - आदिपुराण 3/50
59. तिलोचपण्णत्ती, 4/400-402
60. वही, 4/403-404
61. वही, 4/407-410
62. आदिपुराण, 3/53-54
63. तिलोचपण्णत्ती, 4/411-412
64. हरिवंश पुराण, 7/99-101
65. तिलोचपण्णत्ती, 4/396-395
66. हरिवंश पुराण, 7/102-104
67. वही, 7/122-124
68. (1) आदिपुराण, 3/211-212, (2) लोकविभाग, 5/120-121
69. तिलोचपण्णत्ती, 4/516
70. वही, 4/515
71. स्थानांगवृत्ति, 767/518/1(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, प्रस्ता., पृ.-28 से साभार)
72. त्रिलोकसार, गाथा-792-793
73. आदिपुराण, 3/229 से 232
74. त्रिलोकसार, गाथा-793
75. इमे पण्णत्त कुलगरा समुष्पजित्था - जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, 2/35/54
76. लोकविभाग, 5/122

77. वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रं भृती मनु - आदिपुराण, 3/232
78. आदिपुराण, 3/207-209
79. वही, 3/210
80. तिलोयपण्णत्ती, 4/428-510
81. हरिवंश पुराण, 7/125 से 170
82. आदिपुराण, 3/55-151, 164
83. तिलोयपण्णत्ती, 4/1287
84. वही, 4/1288
85. लोकविभाग, 5/143
86. त्रिलोकसार, गाथा-330
87. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/517-518 (2) लोकविभाग, 5/142
88. तीर्थंकर नामकर्म - ज्ञानावरण आदि कर्मों में नामकर्म की एक प्रकृति।
89. प्रवचनसार, गाथा-45
90. समाधितंत्र, श्लोक-2 संस्कृत टीका
91. तिलोयपण्णत्ती, 4/865-872 का सार
92. वही, 4/522-523
93. तिलोयपण्णत्ती, 4/524-526 तथा 4/1423-1425
94. वही, 4/1448
95. तिलोयपण्णत्ती, 4/1450
96. पद्म पुराण, भाग-1, 20/214
97. तिलोयपण्णत्ती, 4/1435
98. पद्मपुराण, भाग-3, 76/28-34/पृ.69
99. सर्वार्थसिद्धि, 3/37/437/पृ. 173
100. तिलोयपण्णत्ती, 4/1486
101. लोकविभाग, 5/146 (पूर्वाद्ध)
102. वही, 4/1488-89
103. 'कुंडलगिरिम्मिचरिमो, केवलणाणीसु तिरिधरो सिद्धो।' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1491
104. तिलोयपण्णत्ती, 4/1494
105. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, परिशिष्ट, पृष्ठ-482 सारांश
106. तिलोयपण्णत्ती, 4/1504-1505 का सार
107. वही, 4/1528
108. वही, 4/1521
109. वही, 4/1523-1527
110. लोक विभाग, 5/147-148
111. तिलोयपण्णत्ती, 4/1537
112. वही, 4/1541-1553 (सारांश)
113. वही, 4/1557, 1575
114. वही, 4/1564 (उत्तरार्द्ध)
115. वही, 4/1563
116. वही, 4/1565
117. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक-15
118. 'पुरुषुह संखेज्जाइं, बाहत्तरि सचल जुयलाइं' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1568
119. 'देवा विज्जाहरया, कारुणपरा णराण तिरियाणं' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1569
120. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1570-1573 का सार (2) लोक विभाग, 5/161-163
121. लोकविभाग, 5/167-169
122. 'तलो सीयलगांथं, णादित्ता णिस्सरंति णर तिरिया' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1583
123. 'वास सहस्से सेसे उण्णत्ती कुलकराण भरहम्मि' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1590
124. त्रिलोकसार, गाथा-871
125. 'पद्म जिणो, अंति कुलकर सुदो...' - तिलोयपण्णत्ती, 4/1599
126. 'तित्थयर णामकम्मं बंधंते ताणते इमेणामा सेणिग...किण्हा...' - ति.प 4/1605-1606
127. 'सेणिवचर पद्मतित्थयरो...किण्हाचरणिम्मलओ...' - त्रिलोकसार, गाथा-872,874
128. तिलोयपण्णत्ती, 4/1632

# Study the Secondary School Students' Study Habits In Relation to Their Emotional Maturity

Alka Dutt

Assistant Professor, S.P.M. College, University of Delhi, Delhi



shodhshree@gmail.com

**M**aturity is the ability to respond to the environment in an appropriate manner. This response is generally learned rather than instinctive. Maturity also encompasses being aware of the correct time and place to behave and knowing when to act appropriately, according to the circumstances and the culture of the society one lives in. Adult development and maturity theories include the purpose in life concept, in which maturity emphasizes a clear comprehension of life's purpose, directedness, and intentionality which, contributes to the feeling that life is meaningful. Emotional maturity is the capability of a person to control their emotions and not let their emotions control them. There are several things you may feel like doing because of your emotions but emotional maturity will keep you doing the right thing and may even help you to remain calm in the most difficult situations. The status of maturity is distinguished by the shift away from reliance on guardianship and the oversight of an adult in decision-making acts. Maturity has different definitions across legal, social, religious, political, sexual, emotional, and intellectual contexts. The age or qualities assigned for each of these contexts are tied to culturally-significant indicators of independence that often vary as a result of social sentiments. The concept of psychological maturity has implications across both legal and social contexts, while a combination of political activism and scientific evidence continue to reshape and qualify its definition. Because of these factors, the notion and definition of maturity is somewhat subjective.

## Statement of The Problem

The aim of the research is to determine the emotional maturity and study habits of 9th grade students in relation to their gender and school environment. The research also aims to determine how independent variables related to dependent variable. Therefore the problem can be stated as: **To Study the Secondary School Students' Study Habits In Relation to Their Emotional Maturity**

## Background of The Study

Emotional maturity can be understood in term of ability of self-control which in turn is a result of thinking and learning (Singh and Bhargava, 1990). Weisz and Schopler (1986) stated the view that adequate theory of

emotional maturity must take account of the full scope of the individuality powers and ability to enjoy the use of his powers. It arouses through healthy perception of the surroundings and hence enables them to maintain a healthy equilibrium. Emotional maturity is important for healthy emotional development. It is a kind of processes makes himself more mature in emotional condition. The most outstanding mark of Emotional Maturity, according to **Coleman (1944)** is ability to bear tension. Emotional maturity isn't something that necessarily grows with chronological age, i.e. we don't get more emotionally mature when we get older. Emotional maturity is a measure of one's capacity to create in a positive mental attitude. Emotions are our specific reactions to a particular event; they serve as a bridge between our thought and actions. Emotional stability is one of the important indicators of mental health (1968).It affects learning in the school, context and its absence impairs performance in situations which require flexibility and adaptability, and it leads to anxiety, feeling of inferiority and guilt (**Frandsen, 1961**). **Dougals (1964)** had rightly said that the attitude of pupils to their school work is deeply affected by the level of their emotional stability Since negative emotion tend to make us diffused and unfocused, we attain better academic achievements when we develop emotional maturity. Considering the above facts present study will plan to investigate the study habits and level of Emotional Maturity and compare them on the basis of gender.

**Aleem and Sheema (2005)** have found that there is a significant difference between the mean scores of male and female students on emotional stability. Female students are less emotionally stable compared to male students. **Arya (1984)** has found that boys and girls of superior intelligence have better emotional maturity. Superior intelligence boys do well on the emotional maturity than girls of superior intelligence. Residence (urban, semi-urban and rural) does not link with emotional maturity. **B.G.Sudha and B.Nirmala (1984)** in a study whose objective was to study "Effectiveness of Emotional maturity on self confidence of high school students' classified the students on the basis of age and sex. After the analysis of data collected, they gave the following results:

- Private school students are more confident than government school students.
- Female students are more confident than male students.

**Morris and Limbert (1973)** studies the cognitive and Emotional component of Anxiety and found the result that anxiety does not affect the cognitive and emotional components. **Ansari, Mohfoox, A. (1972)** "A study of anxiety among school and college students". It was found that there is no significant difference in anxiety levels of school and college students. Based on the above reviews the investigators also intend to study the emotional maturity and its impact on study habit of the secondary school students in terms of gender differences.

### Rationale of The Study

Based on research in both the neurological and behavioral sciences over the last ten years, it seems that a person's EQ or emotional maturity may be a much better predictor of success in school and in life than the traditionally reversed IQ (**Goleman, 1995**). Emotional maturity is a Non intellectual characteristic which in part determines the school child's ability adequately to adjust. Considering Study habit we found that majority of students face serious problems of how to study and lack of awareness is hindrance to become good academic performers. It is in the absence of proper study habits and techniques that they fail to achieve the maximum within the limited time schedule (**Panchalingappa, 1995; Dhaliwal, 1971; Jain, 1967; Jha, 1970; Vanarase.1970; Singh, 1984 and Sirohi, 2004**). So the study will investigate study habits and the impact of emotional maturity on study habits of secondary school students.

Girls and Boys have different characteristics, needs etc. to each other, therefore people think that due to these differences they are different on their emotional maturity and study habits. Here the question arises if gender affects the emotional maturity and study habits among the secondary school students. So this research will be helpful in finding answer to this problem.

Academic performance of the students depends upon lots of factors such as intelligence, interest, attitudes, motivation, study habits, academic

success and emotional maturity etc. The study is very important for parents, teachers, guidance workers, social workers and administrators to provide such a school environment where students can develop good study habits and become emotionally mature to take a decision by themselves and where they can live emotionally stable. It will also be helpful in providing various interventions to develop good study habits, training and methods for improving the emotional maturity and counselling tips to students to improve emotional maturity.

### Objectives

- To investigate study habits of class-IX students.
- To study level of emotional maturity of class-IX students.
- To study the relationship between students' emotional maturity and their study habits.
- To compare students' level of emotional maturity on the basis of gender.
- To compare students' study habits on the basis of gender.

### Research Methodology

#### Research design

In the study students' emotional maturity and study habits will be explored and then it will be correlated with each other and with their gender.

#### Sample

The sample of the study will comprise 100 students each (out of which 50 are Boys & 50 are Girls) from Govt. School of Delhi from grade 9th. The selection of school will be based on random sampling from north Delhi region. This is due to accessibility of participants.

#### Tools/Tests

Two test materials will be used

- Study habit inventory developed by Patel (in 1976)
- Emotional maturity scale developed by Yashvir Singh and Mahesh Bhargava (in 1984)

### Statistics Analysis

- Mean and standard deviation will be used for the obtain emotional maturity and study habits of govt. and private secondary school students in total and dimension wise
- t- Test will be used for identifying significant difference between
  - (a) Gender differences and
  - (b) Emotional maturity and study habits of the secondary school students.

### Delimitations

- The study is confined to ninth-grade students.
- The study is confined to the Home environment and planning of work, Reading and notes taking, planning of subject, Habits of concentration, Preparation for examination, General habits and attitudes, & School environment aspects of Study Habits.
- The study is confined to emotional instability, emotional regression, social maladjustment, personal disintegration, and lack of independence aspects of Emotional Maturity.

### Conclusion

The main purpose of this study was to study the student's emotional maturity and study habits. The study also sought a relationship between the variable. In addition to this, the effect of gender on the same variable was also studied.

Student's profile on emotional maturity shows that the majority of student (69%) came under less stable zone of emotional maturity (32% unstable & 37% extremely unstable). In terms of gender 76% girls came into less stable zone of emotional maturity (29% unstable and 47% extremely unstable) whereas 59% boys were in this zone (36% unstable and 23% extremely unstable). Significant difference was found in the mean scores of boys and girls on two dimensions of emotional maturity namely, emotional instability ( $t=2.23$ ,  $df=88$ ,  $p<0.05$ ) and emotional regression ( $t=2.56$ ,  $df=88$ ,  $p<0.05$ ). The mean scores of girls (23.76 and 24.41 respectively) were found higher than the mean scores of boys (20.36 and 24.41 respectively) were found higher than the mean scores of boys (20.36 & 20.54 respectively) in these two dimensions which indicate that girls have a higher degree of

emotionally instability and emotional regression compared to that of boys. Further, statistically significant differences ( $t=2.14$ ,  $df=88$ ,  $p<0.05$ ) was found in the overall mean of boys of the same standard.

Students profile on study habits shows that the majority of hem have appropriate study habits only in two dimensions of the study habits inventory namely school environment (83.33%) and home environment and planning of work (66.67%). Comparison based on gender showed that the difference in the mean score between boys and girls was not statistically for any dimensions of study habits at 0.05 level. Further, an overall scores of boys and girls on study habits was not found to be significant. This indicates that boys and girls of 10th do not differ significantly with respect to level of study habits. On an average the study habits of 10th standard students was not appropriate.

Finally, in order to find out relationship between emotional maturity and study habits person r was calculated. The correlation between emotional maturity and study habits was found to be not significant ( $r=-.02$ ,  $p>.05$ ).

## References

1. *Abi Samra, N. (2000). The relationship between Emotional Intelligent and Academic Achievement in Eleventh Graders. Research in Education, FED.661.*
2. *Remu, A. O. (2004). Psychological and Sociological determinant of academic achievement of Nigeria adolescents. An international Journal of Psychology in Africa, 12 (2), 149-161.*
3. *Armstrong, T. (2000). Multiple intelligences in the classroom. Alexandria, VA: Association for Supervision & Curriculum.*
4. *Arora, R. K. (1992). International Effect of Creativity and Intelligence on Emotional Stability, Personality Adjustment and Academic Achievement. Fifth Survey of Educational Research, 1988-92, Vol.II, NCERT, 1860.*
5. *Arya, A. (1984). Emotional Maturity and Values of Superior Children in Family, Ph.D. thesis in Psychology, Agra University. In M.B. Buch (Ed.) Fourth Survey of Research in Education, 1983-1988, 2, 1327.*
6. *Ashkanasy, N. M., & Dasborough, M. T. (2003). Emotional Awareness and Emotional Intelligence in Leadership Teaching. Journal of Education for Business, 79, 18-22.*
7. *Austin, E. J., Evans, P., Goldwater, R., & Potter, V. (2005). A Preliminary Study of Emotional Intelligence, Empathy and Exam Performance in First Year Medical Students. Personality and Individual Differences, 39, 1395-1405.*
8. *Barchard, K. A. (2003). Does Emotional Intelligence Assist in the Prediction of Academic Success? Educational and Psychological Measurement, 63, 840-858.*
9. *Bar-On, R. (1997). Bar-On Emotional Quotient Inventory: Technical Manual. Toronto: Multi-Health Systems, Inc.*
10. *Bar-On, R. (1997a). The Emotional Quotient Inventory (EQ-i): A emotional intelligence. Toronto, Canada: Multi-Health Systems, Inc.*
11. *Bar-On, R. (1997b). The Emotional Quotient Inventory (EQ-i): Technical manual. Toronto, Canada: Multi-Health Systems, Inc.*
12. *Bar-On, R. (2000). Emotional and Social Intelligence: Insights from the Emotional Quotient Inventory (EQ-i), In R. Bar-On and J. D.*
13. *Parker (Eds), Handbook of Emotional Intelligence. San Francisco, CA: Jossey-Bass.*
14. *Bar-On, R. (2006). The Bar-On model of emotional-social intelligence (ESI). Psicothema, 18, supl., 13-25.*
15. *Barton, K., Dielman, T. E., & Cattell, R. B. (1972). Personality And IQ measures as Predictors of School Achievement. Journal of Educational Psychology, 63(4), 398-404.*
16. *Bastian, V. A., Burns, N. R., & Nettelbeck, T. (2005). Emotional Intelligence Predicts Life Skills, but not as well as Personality and Cognitive Abilities. Personality and Individual Difference, 39, 1135-1145.*
17. *Bharwaney, G. (2007). Emotionally Intelligent Living. UK: Crown House Publishing Limited.*
18. *Bracket, M. A., & Mayer, J. D. (2003). Convergent Discriminant and Incremental Validity of Competing Measures of Emotional Intelligence. Personality and Social Psychology, 29, 1147-1158.*
19. *Busato, V. V., Prins, F. J., Elshout, J. J., & Hamaker, C. (2000). Intellectual ability, learning style, personality, achievement motivation and academic success of psychology students in higher education. Personality and Individual Differences, 29, 1057-1068.*
20. *Campbell, L., & Campbell, B. (1999). Multiple intelligences and student achievement: Success stories from six schools. Alexandria, VA:*

# A Study of Career Maturity of Female Adolescent Students in Relation to Their Locality at Senior Secondary Level

Nishi Tyagi

Assistant Professor, SRM University, Modinagar, Ghaziabad, (Uttar Pradesh)



shodhshree@gmail.com

**T**he main aim of education is to make an individual understand one's self and be able to make a decision upon one career or the other. Successful career development often involves setting realistic, deliberate goals, simultaneously searching for cohesiveness between employee and employer. The construct of career maturity consists of a readiness, attitude and competency to deal with efficiently with the career development tasks. The assumption can be made that a career mature person is more capable of making an appropriate and realistic career choice and decision. Career mature individuals have the ability to identify specific occupational preferences and to implement activities in order to achieve their goals. The concept of career maturity was defined as the place reached on the continuum of vocational development from exploration to decline (Super 1955). Career maturity is thus the degree which one has reached in cognitive, emotional and other psychological factors whereby one acquires the capacity of making realistic and mature career choices. According to another definition, career maturity is the extent to which an individual is able to master certain career developmental tasks that are applicable to his/her life stage.

Career maturity is conceptualized as an individual's readiness to make well informed, age - appropriate career decision, and to shape one's career carefully in the face of existing societal opportunities and constraints (Salami 2008). Although educational and vocational choices are made by an individual but they are certainly influenced by many social and environmental factors which include socio-economic status of the family, home and family environment, sex, age, rural and urban background psychological factors which may include intelligence, personality, achievement, motivation, interest, aptitude, self-concept academic achievement etc. Thus, career selection is not an exclusively intellectual process in which various possibilities are sorted out in a logical manner. Instead, decisions are based on the interaction of career maturity with various social or psychological factors. Studies have also substantiated the beliefs concerning the role of psychosocial variables like intelligence, socio-economic status, parental influence, school influence, needs and values as motivating factors in specific career preferences of adolescents (Vasanth 1977; Yadav 1979). An insight into the possible factors underlying career maturity would suggest the guidelines for

planning various activities for the students. It may also help the teachers, parents and guidance workers for developing desirable attitudes in children. Keeping in mind the determinant and predictor variables of career maturity, the present study is an endeavour to understand career maturity of adolescents in relation to locality.

### **Significance of The Study**

Career maturity assumes a great importance in the life of adolescents for their proper future placement. It is the pre-requisite ability to make a wise choice towards particular occupation and represents development along a continuum. The counselors and the students, and the teachers with whom they work, need an understanding of the types and characteristics of career patterns. Selection of career and setting in it is an important task and a source of personal gratification. In the modern age of science and technology, hundreds of vocations have been thrown open to an individual. The choice of a right vocation is becoming difficult in these days. Adolescence is the period when a major turning takes place in the life of a student because the career will depend upon the subjects selected at this level. On the recommendation of National Policy on Education 1986, school curriculum after the 10th class has been diversified into academic and vocational streams. The educational and vocational decisions at this stage pave the way for future decisions to be taken by any individual in the world of work. Any wrong decision of vocational choice due to pressure of the family or from indecisiveness on the part of adolescent can block his/her growth and development in future. Therefore, it was considered relevant to study this aspect namely Career maturity among female adolescents.

**Statement of The Problem** -A study of career maturity of female adolescent students in relation to their locality at senior secondary level.

### **Objectives of The Study**

- To determine the Career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level.
- To study and compare the Career maturity with its dimensions between rural and urban female adolescents at senior secondary level.

### **Hypothesis of The Study**

- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level.
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their career attitude. (Dimension of career maturity)
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their self appraisal. (Dimension of career maturity)
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their occupational information. (Dimension of career maturity)
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their goal selection. (Dimension of career maturity)
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their planning. (Dimension of career maturity)
- There exists no significant difference of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their problem solving. (Dimension of career maturity)

### **Methodology**

#### **Research Design**

In the present study, descriptive survey method was employed.

#### **Population and Sample**

The study was conducted on a sample of 150 female senior secondary school students from four public and government schools in Modinagar Ghaziabad District., Stratified Random Sampling used in this study.

## Tool Used

In the present study the tool "Career maturity inventory" (CMI) was used which is prepared and validated by Dr. Nirmla Gupta.

## Data Collection

Investigator sought prior appointment with the principals of the selected schools for the data collection. Investigator established rapport with students selected as sample and also gave all the necessary instruction. Tools are collected after the decided time limit. Thus, investigator followed classical procedure of data-collection.

## Statistical Techniques Used

The data were analyzed with the appropriate statistical measures to justify the objectives of the study. The investigators employed Mean, Standard Deviation and t-test for the analysis of data.

## Data Analysis, Interpretation and Discussion of Results

The analysis of data collected by the investigators was done in order to make inferences and generalizations about the population.

**Table 1.** Showing the comparison of Career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level

Variables	Sample size	Mean	S.D.	't' Value
Rural female adolescents	65	50.53	10.9	6.28*
Urban female adolescents	85	64.17	15.75	

\*Significant difference at 0.05 level

## Interpretation

After analyzing the data given in the Table No.1.1 indicate that the effect of adolescents factor in relation to the over all Career maturity between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=50.53) Mean score point with (10.9) standard deviation while their counterpart more scored Urban Female Adolescents (N=85) score

(M=64.17) mean score with (15.75) standard deviation. The 't'-value clearly indicates ( $t=6.28$ ) that the groups have significant difference in relation to their over all Career maturity. Thus on the basis of 't'- value (6.28) 1st hypothesis of the study that "There is no significant difference between the overall Career Maturity of rural and urban female adolescents at senior secondary level" had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

**Table 2.** Showing the comparison of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their career attitude.

Variables	N	Mean	S.D.	't' Value
Rural female adolescents	65	30.7	6.15	1.83
Urban female adolescents	85	29.05	5.25	

\* Not significant difference at 0.05 levels

## Interpretation

The data given in the Table No.1.2 clearly depicts that the effect of adolescents factor in relation to the Career Attitude Scale between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=30.7)

Mean score point with (6.15) Standard deviation while their counterpart less scored Urban Female Adolescents (N=85) score (M=29.05) mean score with (5.25) standard deviation. The 't'-value clearly depicts ( $t=1.83$ ) that both groups did not have significant difference in relation to their Career Attitude Scale.

**Table 3.** Showing the comparison of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their self appraisal

Variables	N	Mean	S.D.	t' Value
Rural female adolescents	65	5.62	3	5.68
Urban female adolescents	85	8.35	3.1	

\* Significant difference at 0.05 level

#### Interpretation

Result given in the Table No.1.3 clearly reveals that the effect of adolescents factor in relation to the Self Appraisal between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=5.62) Mean score point with (3) Standard deviation while their counterpart more scored Urban Female

Adolescents (N=85) score (M=8.35) mean score with (3.1) standard deviation. The 't'-value clearly indicates (t=5.68) that the groups have significant difference in relation to the Self Appraisal. Thus on the basis of 't'- value (5.68) 3st hypothesis of the study that " There is no significant difference between the Self Appraisal of rural and urban female adolescents at senior secondary level " had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

**Table 4.** Showing the comparison of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their occupational information.

Variables	N	Mean	S.D.	t' Value
Rural female adolescents	65	4.31	3.05	6.42
Urban female adolescents	85	7.52	3.25	

\* Significant difference at 0.05 level

#### Interpretation

Data of the Table No.1.4 reveals that the effect of adolescents factor in relation to the Occupational information between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=4.31) Mean score point with (3.05) Standard deviation while their counterpart more scored Urban Female Adolescents (N=85) score

(M=7.52) mean score with (3.25) standard deviation. The 't'-value clearly indicates (t=6.42) that the groups have significant difference in relation to their Occupational information. Thus on the basis of 't'- value (6.42) 4st hypothesis of the study that "There is no significant difference between Occupational information of rural and urban female adolescents at senior secondary level " had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

**Table 5.** There exists no significant difference between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their goal selection.

Variables	Sample size	Mean	S.D.	t' Value
Rural female adolescents	65	3.54	2.64	9.6
Urban female adolescents	85	7.41	3.1	

\* Significant difference at 0.05

#### Interpretation

The data given in the Table No.1.6 reveals that the effect of adolescents factor in relation to the Goal Selection between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents

(N=65) Score (M=3.54) Mean score point with (2.64) Standard deviation while their counterpart more scored Urban Female Adolescents (N=85) score (M=7.41) mean score with (3.1) standard deviation. The 't'-value clearly indicates (t=9.6) that the groups have significant difference in relation to their Goal Selection. Thus on the basis

of 't'- value (9.6) 5st hypothesis of the study that "There is no significant difference between Goal Selection of rural and urban female adolescents at

senior secondary level" had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

**Table 6.** Showing the comparison of career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their planning

Variables	Sample size	Mean	S.D.	't' Value
Rural female adolescents	65	3.27	3	3.86
Urban female adolescents	85	5.2	3.5	

\* Significant difference at 0.05

### Interpretation

The data given in the Table No.1.6 reveals that the effect of adolescents factor in relation to the Goal Selection between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=3.54) Mean score point with (2.64) Standard deviation while their counterpart more scored Urban Female Adolescents (N=85)

score (M=7.41) mean score with (3.1) standard deviation. The 't'-value clearly indicates (t=9.6) that the groups have significant difference in relation to their Goal Selection. Thus on the basis of 't'- value (9.6) 5st hypothesis of the study that "There is no significant difference between Goal Selection of rural and urban female adolescents at senior secondary level" had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

**Table 7.** Showing the comparison of Career maturity between rural and urban female adolescents at senior secondary level in relation to their problem solving.

Variables	Sample size	Mean	S.D.	't' Value
Rural female adolescents	65	3.39	2.5	5.07
Urban female adolescents	85	5.42	3	

\* Significant difference at 0.05 level

### Interpretation

The data given in the Table No.1.7 reveals that the effect of adolescents factor in relation to the Problem Solving between senior secondary adolescents of two contrast group Rural Female Adolescents (N=65) Score (M=3.39) Mean score point with (2.5) Standard deviation while their counterpart more scored Urban Female Adolescents (N=85) score (M=5.42) mean score with (3) standard deviation. The 't'-value clearly indicates (t=5.07) that the groups have significant difference in relation to their Problem Solving. Thus on the basis of 't'- value (5.07) 7st hypothesis of the study that " There is no significant difference between Problem Solving of rural and urban female adolescents at senior secondary level " had been rejected even at the 0.05 level of significance (1.96).

As in case of planning the career, cognitive level of person is paramount importance, one cannot

ignore this aspect while opting for a career. As for every type of occupation, different types of cognitive structuring is required, students should be made aware of this and guided accordingly. As in this study it has been observed that there was difference in rural and urban female with respect to Career maturity, therefore suitable career counseling programmes catering to individual differences should be designed.

### Findings

- Urban female adolescents are having high career maturity than rural females of senior secondary level.
- There is no significant difference of urban and rural female adolescents at senior secondary level in relation to their career attitude.
- The urban female adolescents are found to be more matured than that of rural female adolescents in relation to their self appraisal.
- The urban female adolescents have more

occupational information than that of rural female adolescents.

- The urban female adolescents are more matured than that of rural female adolescents in relation to their goal selection.
- The urban female adolescents are more concerned than that of rural female adolescents in relation to their planning.
- The urban female adolescents are more capable of solving their problem as compared to rural female adolescents.

## Conclusion

On the basis of above study, it may be concluded that urban female adolescents and rural female adolescents differ significantly in career maturity, but possess same career attitude. On the other hand, in case of goal selection, occupational information, planning and capability of problem solving, the urban female are found to be more matured as compared to rural females at senior secondary levels. So, the result suggests that locality plays a vital role in career maturity at senior secondary level in adolescents.

## References

- 1 Crites, J. O. (1978). *Career Maturity Inventory*. Monterey, Calif: CTB, McGraw Hill.
- 2 DeLese, M. A. (2008). *Identification and analysis of the factors influencing students' preference in career vocational training choice*. Unpublished Ph.D. Thesis , Temple University, Dissertation Abstracts International, 69(1), 195-A
- 3 Dhillon, U., & Kaur, R. (2005). *Career maturity of school children*. *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology*, 31 (1-2), 71-76.
- 4 Gonder, P. O., & Hymes, D. (1994). *Improving School Climate and Culture*. Arlington: American Association of school Administrators.
- 5 Gupta, N. (1989) *Indian Adaptation of Crites Career maturity Inventory (CMI)*. National Psychological Corporation, Agra.
- 6 Jalota, S. (1976) *Manual for General Mental Ability Test*. Ivory Printers, Chandigarh.
- 7 Hervey, J. G. (2008). *Success is a journey: An exploration of curriculum and school influences on the work aspirations of Ghanaran senior secondary school alumni*. Unpublished Ph.D. Thesis, Dissertation Abstracts International, 69(5), 1756-A.
- 8 Kostko, O. (2008). *Career decision making selfefficacy among high school students in selected public and private schools in Bangkok*, retrieved. Graduate school of education. Assumption University of Thailand.
- 9 Maietta, H. N. (2010). *Guiding students from matriculation to graduation: Analysis of a four year professional development program for undergraduates*. Unpublished Ed. D. Dissertation, Central Michigan University, Dissertation Abstracts International, 70 (12), A.
- 10 Salami, S. O. (2008). *Gender, Identity status and career maturity of Adolescents in Southwest Nigeria*. *Journal of Social Sciences*, 16 (1), 35-49.
- 11 Spokane (1991). *Multicultural Career Development in Schools As cited in Sanjeev Kumar (2002). A comparative study of career maturity and attitude towards modernity of backward and non-backward class high school students in relation to socio-economic states*. Ph.D. Thesis, Chandigarh: Panjab University.
- 12 Super, D. e. (1955). *The dimensions and measurement of vocational maturity*. *Teachers college Record*, 57, 151-165.
- 13 Thakur, S. (2011). *Study of career maturity in relation to school environment among secondary school students*. Unpublished M.Ed. Dissertation. Amritsar: Guru Nanak Dev University.
- 14 Vandiver, D. (2005). *The correlation between students' perceptions of school climate and positive student outcomes*. Unpublished Ed.D. Dissertation, Columbia : University of Missouri, Dissertation Abstracts International, 66(9), 3181-A.
- 15 Vasantha, A. (1977) *A socio-economic study of work values*. *Journal of Psychological Researches* 21, 2, 119-121.
- 16 Yadav, R. K. (1979) *A study of motives for the vocational preferences of adolescents*. *Indian Educational Review* 29, 2, 78-79.

## 'Wuthering Heights' : A Woman's Voice for Contentment

Dr. Rajeev Dubey

Assistant Professor , Govt. P.G. College, Shivpuri (Madhya Pradesh)



shodhshree@gmail.com

**W**uthering Heights, a novel by Emily Bronte, first published in 1847, is a great story of passionate love and cruel revenge. Though it was received coldly when first published and condemned as "irremediably monstrous" but later on it was turned as a work of great genius, a novel having the most intense story<sup>1</sup> among the whole range of English fiction and its popularity grew more and more and today it is regarded the second most readable book after J.K. Rowling's "Harry Potter".

'Wuthering Heights' is a product of dual feelings of violence and calm, passion and peace. Emily Bronte who herself led a life of recluse and semi-reclusion under the strict control of a priestly father who did not allow her to see the world more from the limit which he had made and so the author of 'Wuthering Heights' had much hidden inside in her breast<sup>2</sup>, many tormented traumas, the pain and anguish of life, the complains which she had to God for the sudden demise of the four members of her family, bursts forth in her only novel. So, the novel is a powerful protest of a woman against God and society which suppress life's natural desires<sup>3</sup> and man's life becomes an unending tale of suffering, unfulfilled love, death and destruction. In many ways Cathy and Heathcliff have very akin to their creator. Cathy has great love for Heathcliff, it has been not a forced passion but the similarity of nature and that is why their love has great depth, toughness and permanence.

The novel relates the story of two families Mr. Earnshaw and Linton, living at Wuthering Heights and Thrushcross Grange respectively. There is Mr. Heathcliff, a dark skinned outsider and the central character of the novel. Both the families have been living with close affinity to the nature and temperament of their surroundings. Mr. Earnshaw, his wife and two children Cathy and Hindley who are living at Wuthering Heights are violent and emotive in their temperaments while Mr. Linton, his wife and two children- Isabella and Edgar are decent and dignified, calm and tranquil in their natures. But, one day when Mr. Earnshaw brought Heathcliff from Liverpool, it added poison to the family. While Mr. Earnshaw was sympathetic to the poor vagabond boy, his son Hindley was always cruel and indignant to Heathcliff and virtually left him at the position of poor servant in the family. Cathy having the same mindset, nature and temperament as that of Heathcliff, turned to him out of sympathy and as Hindley tried to prevent their love, they become closer and closer.

Heathcliff is humiliated by both the families and when he left the Heights, Cathy by being frustrated and agonised and under the pressure of her brother Hindley, married to Edgar and thus Cathy and Heathcliff who possess the passionate affinity of mind, intense force like two great powerful rivers but their courses have been diverted and damned. Heathcliff returns back by being a great revenger but Cathy dies under the intolerable mental pressure. In the fire of revenge, Heathcliff becomes a devil, leaving all the sense of humanity. His revenge continues to two generations of Earnshaws and Lintons, he does not spare even small innocent children. Though Heathcliff marries to Isabella who is a Linton but even she becomes the prey of his inhuman treatment and ultimately dies. Though the novel ends in happiness but its total effect is of awe and mystery of the universe.

*We feel We that are young*

*Shall never see so much, nor live so long.*

Family Bronte was only twenty-nine when she wrote this powerful novel and so the novel directly embodies her fury of feelings without any hindrance or obstruction. What is the quality that gives extraordinary force to the novel is that for the first time in the history of the writing there is a terrible free-flow of a woman's voice, the expression of her aching heart, the sighing and moaning of un-kissed lips and the frustration of face and wetness of eyes caused by unfulfilled love. Emily stands sharply against Victorian's false prudery and hypocrisy. She repudiates Victorian's false and ready-made values of sexuality that says that sex is the matter of class like feelings. Cathy and Heathcliff have the affinity of mood and temperament - a great binding and uniting force and they are at odds with the social, moral and artificial norms and so the fierce struggle between nature and civilisation that lies at the heart of the novel. Through many minute events, Bronte has pointed out the spiritual similarity of the two, the relationship of heart and mind. Cathy says this:

"I've no more business to marry Edgar Linton than I have to be in heaven; and if a wicked man in there had not brought Heathcliff so low. I shouldn't have thought of it. It would degrade me to marry Heathcliff, now; so he shall never know

how I love him; and that, not because he's handsome, Nelly, but he's more myself than I am. Whatever our souls are made of, his and mine are the same, and Linton's is as different as a moonbeam from lightning, or frost from fire."<sup>4</sup>

And again;

*"My love for Linton is like the foliage in the woods... My love for Heathcliff resembles the eternal rocks beneath..."<sup>5</sup>*

In spite of this oneness of nature, Cathy and Heathcliff have been forced to live apart because Victorian morality did not permit that a girl from a landlord should be married to a man whose identity has been unknown and who speaks in rustic language, devoid of 'civilised culture' and 'good language'. While explaining that her marriage to Edgar has been 'false', an 'easy arrangement', 'a forced behaviour' Cathy tells that how her friend Heathcliff has been turned into a 'savage' how he has been devoid of 'tution', 'education' and 'good food'<sup>6</sup> by her brother Hindley and how Edgar has denied to accept Heathcliff's identity and how Heathcliff was made a 'degraded and wretched person'. So, in a way, Bronte raises the question of the independence of woman, woman's voice to choose her partner and how her this instinctive choice is countermanded, and obstructed by the false cultural notions of the time.

Thus, 'Wuthering Heights' is a great work of instinctive genius. Apart from its impassioned lyrical prose, photographic fidelity of the natural scenes and reality of passions, the novel reveals the secret mysteries of women's hearts. It discloses Victorians' discriminative and indifferent treatment of female sex and boldly realises the ideal of independence in thought and freedom in spiritual terms for them.

She was a poet at heart with unlimited reserve of sentiments in her bosom. Charlotte Bronte, her sister, writes, "I have never seen her parallel in anything, stronger than a man, simpler than a child, her nature stood alone".<sup>7</sup> Her prose is charged with her impassioned lyricism, enraptured imagination and forceful utterances with accurate photographic fidelity. She has very skillfully and psychologically caught the mood and movement of windy moor-its blustering wind and tempestuous and tumultuous atmosphere

with flashes of lightning and thunder in the sky, which in turn creates unrest, and restlessness in its dwellers. She has made alive every scene of nature with her elfin imagination; she has given each of them a form and colour, a life and movement, a soul and self. People of this northern area, too, have also developed a very deep affection and attachment to their favourite writer who died so young with a so terrible tragic family life and yet so bold, energetic and powerful. They are lost in her past memories, in her fun and frolics and into the powerful pages of her book. They talk as if they had been known to her, played with her, lived with her and walked with her. Pankaja Srinivasan, who writes for Hindu, has recently visited the area and was deeply astonished to see the great love they have cherished for their dear writer and how each article of her and her family has been preserved and maintained by them. He writes:

The Brontes are everywhere... Mr. Bronte's book of Psalms with a magnifying glass beside it still lies on his desk by the fireplace. Most of the furniture we see at the parsonage was actually used by the Brontes, so, goose bump moments once more as I gaze at the sofa on which Emily breathed her last, or the piano which she

played, or the rough kitchen table where she made bread. On the way upstairs in the clock, that Mr. Bronte wound nightly before going to bed. The gowns Emily, Ann and Charlotte wore, the books they read, their needlework and locks of hair from Emily and Charlotte are some of the precious displays in the exhibition room. The stories the three sisters and their brother made up, of adventures in Gondal Land and Angria are there. Imagine being face to face with the handwriting of the Brontes.<sup>6</sup>

## References

- 1 Walter Allen, *The English Novel* (New York: Penguin Books, 1954), P.194.
- 2 E.M. Forster, *Aspect of the Novel* (New Delhi: Doaba Publications, 2004), P.119.
- 3 Hugh Walker, *The Literature of the Victorian Era* (Delhi: S. Chand & Co., 1955), P.512.
- 4 Emily Bronte, *Wuthering Heights* (New Delhi: UBS Publishers, 2003), P.245.
- 5 *Ibid.*, P.247
- 6 *Ibid.*, P.251
- 7 Hugh Walker, *The Literature of the Victorian Era* (Delhi: S Chand & Co., 1955), P.510
- 8 *The Hindu Magazine*, Sunday, June 7, 20

## Significance of Education in the view of Dr. S. Radhakrishnan

Naresh Kumar

Research Scholar ,Mewar University, Chittorgarh

Dr Manveer Singh

Associate Professor , NMSN Das degree College, Badaun (Uttar Pradesh)



shodhshree@gmail.com

**D**r. S. Radhakrishnan is one of the famous philosophers of the contemporary Indian education philosophers, who worked for a long time in various education institutions and saw closely the problems related to it. He was born on 5th of September 1888 in Madras (now Chennai). He completed his early education in Christian Missionary Schools. He also studied in Luther Mission High School Thirupati then he went to Urhi College and Vellore and at last he completed his higher education in Madras Christian College.

He was appointed as Professor of Philosophy in Kolkata University and stayed there from 1921-1929. He delivered his lecture in Hebert during 1929-1930. He became member of International Committee on Intellectual Cooperation. The English government conferred on him the degree of 'Knight' in 1934. He was Vice Chancellor of Banaras Hindu University from 1939-1948. He represented India in UNESCO Committee of UNO from 1946-1950. He was the Chairman of UGC in 1948.

'BHARAT RATNA' The highest civilian award was given away to him in 1954. He visited Belgium, Poland, USSR Bulgaria and many more Central European countries in 1956. He also made friendship visit in Singapore, China and Indonesia in Oct 1956. He received the designation of honorary Professor in Moscow University in 1956. He was elected Vice President of Republic of India in 1957. He became the President of India in 1961. He was also elected fellow of British Academy on 11th July 1962. Celessy University of Italy conferred on the degree of D.Lit. on 12th Oct. 1965.<sup>1</sup> Also, he was blessed from the degree of 'Knight of Golden Army of Angels' by Pope Paul in 1964.

He was a great educationist. we see the sense of Religion, Ethics, and Indian culture in his educational philosophy. Also sense of universal brotherhood can be seen in his views. He wanted to set up a society in which all section of society must get equal opportunity. He believed that education is the only way that makes a man sober, full of character.<sup>2</sup> His contribution to his pupils or students is to provide the education of faith. He advocated the education of world philosophy. His views had Ethics as well as Spiritualism.

He has adopted the broad view on education as regards syllabus and medium of education. A true educational philosophy is based on human nature and

right attitude of the society. He advocated the various points of human nature in his educational philosophy. He always forced the spiritual way of a man. He wished that a welfare outlook must be there in his education curriculum, it makes the education of children behavioral. It produces the necessity to fulfill the need of the nation. He was a true guard of nation and he used to relate philosophy and religion with the education. He has always emphasized on scientific & human education. His educational philosophy is full of Indian culture and universal brotherhood. He accepted to make the views of people in the best manner, education is mandatory. The disciplined, cultured and self-reliant citizen can be made by education only. He insisted that self-interview can only be fulfilled if we make all-round development of a student. Education plays a great role in making all this. Dr R A Sharma also says, "Education as an investment means of investment in man a capital element is created in him which enable him to produce more than he could do with the help of his innate abilities only."<sup>3</sup>

### **Aims of Education**

He always believed that the purpose of life is not only to fulfill the needs of physical life but also to educate our soul. He never accepted the education that is obtained through bookish language or education through degrees. He insisted that our utmost care should be focused to get free the child from superstitions. Dr. S. Radhakrishnan always kept his aim of education to develop powers of a man. We have to carry a child towards liberty, which should be the true purpose of education. He wished that after making spiritual development in a child, we can generate the feeling of 'Bahujan Hitaaye' in them. As we are aware that we can uplift our nation through selfless service and having belief in Almighty.

Modern education is focusing towards mental and intellectual development. It has more relation with physical education and having less relation with spiritual development. He said, "The aim of education is neither national competence nor world unity but to realize a man that he has a soul in his body and we have developed this."<sup>4</sup>

He had the faith that the aim of life is not to get physical relief but to educate our soul. Thus, his

aim of education is the all-round development of personality of a child e.g. physical, mental, ethical and spiritual development. The aim of education should be development of human soul. The aim of education should be development of knowledge so that he could be learned man as spiritual development is impossible without development of knowledge. Dr S. Radhakrishnan further says, "Education is not limited to the imparting of information or the training in skills. It has to give the educated a proper sense of values Scientists and Technologists are also citizens and have a social responsibility in the community in which they live."<sup>5</sup>

He says "Education can be achieved through books but this bookish of knowledge does not go in the depth of the soul, it doesn't become the part of human nature and not transformed."<sup>6</sup> Character is developed in educational period. A well country is formed through good character. Those who have bad character can't make a good nation. If we want to make a great nation we have to create character qualities in our children then only we can generate a sense of universal brotherhood in them. Also the aim of education should be the development of inner feeling so that a child differentiates the true, false and right-wrong things. We are aware that our country has quality, talent in our youth, even after we have not got good result, the same we were expecting. Though growth is going on but its speed is less. It looks that it is due to our narrow mindedness. We are not well progressing.

After getting a job our students limit themselves unto jobs only and he forgets their teachers. They should perform the role of teachers in the field in which they are working. They should always develop their talent, if the development is stopped, we will get negative result.

We are aware that aims intimate us the knowledge, we want to get them through our educational attempts. Education is meaningless without aims. A ss became directionless and mechanical without proper aim of education. According to him, "The nature of educpurposeful education advances the process of education. This education makes aware teachers and educators. It fills farsightedness in them. The aim of education provides a right direction to all educational purposes. Our education proceation

should be very broad. There is a short of dense knowledge in our education. We can be educated and competent but if we have no purpose of life, then our life will be full or darkness, suspicion & enmity." Mr M.N. Whitehead has also expressed his views on aims of education stating, "Style in its finest sense is the last requirement of the educated mind, it is also the most useful. It is an aesthetic sense, based on admiration for the direct attainment of a foreseen end simply and without waste. Style in art, style in literature, style in science, style in logic hates waste. Style is the ultimate morality of mind. With style you attain your end and nothing but your end".<sup>7</sup>

### Education of Teachers

There is no importance of building, decoration, laboratories or other things in any educational institute, but worthy teachers working in that institute play a wide role in the development of that institute. A teacher alerts students about good & bad traits coming in their lives. Books provide to anyone the information only, but a teacher produces a tunnel of knowledge through his personality.

Teachers are creators of nation. A teacher should always be hungry of knowledge. He once said, *"Teachers are always above to his public & servants, they keep their emotions under control & serve humanity. In fact they have kept alive the society."*<sup>8</sup>

In our ancient time the place of teacher was very high-

*"Guru Brahma, Guru Vishnu, Gurudeva  
Maheshwara,*

*Guru Sakshaat parbrahma, tasmeh Shree Guruve  
Namah"*

The main problems in our present education system are unworthy and characterless teachers. Our great teachers were those who provided concrete base to the education. Dr. S. Radhakrishnan liked those teachers who are having good character, thirsty of knowledge, full of knowledge traits and have affection with his subjects.

He wished that a teacher should make a man or member of world community. A human being should create a new world where caste, religion,

culture are not hurdles. After guardian and parents, a teacher plays a great role in the growth of his students. Students should get knowledge of his subject and future planning from his teachers. They believe their teachers as they know that teachers will show them the right path to success. Present education is a two way formula. Students get satisfied their thirst of knowledge with the help of their teachers. The teachers should also learn many things from his students. In fact the teacher's work is to free the soul. Today the sense of imbalance and the sense of enmity can be seen everywhere. The teacher is the person who can free us from these two aspects.

### Education of Students

The feeling that we know everything and now nothing is required to know, we start to criticize the other's work from that date. We dig out other's weaknesses, we try to downgrade others and we get happiness for a while by doing so. We start inculcating a bad habit and damaging ourselves. The great mantra for students is that they should always remain as a student. We must learn always. If student wants respect from others, he should respect others first. It will help him in his growth, as and when we are getting big or small success we should thank to them, who had extended their help for their success. A student is very important part of education. All the educational activities, i.e syllabus, curriculum, lesson plans and all planning related to education are for the students. According to him, a student could not lead a happy life as 'Sukharti na kuto Vidya, Vidhyarthi na kuto Sukham'. A sukharthi student could not get wisdom we have to be hardworking and disciplined in life.

He has added, *"A student should never neglect truth, good qualities, welfare, well beingness, studying, teaching etc. He should keep a distance from controversial issues. He should always follow the competent teachers who have capacity to take bold decisions."* If a student has an unwanted pressure on his mind, he will never get in position to learn anything. We should keep ourselves away from indiscipline at any cost, as if we demonstrate any false show; it brings anarchy in the society. A student is a citizen of tomorrow so they should train themselves to be an ideal citizen.

Dr. S.Radhakrishnan expects the Indian foreign

students that they should come to India after education and serve the nation as India is looking forward with hopeful sights towards them. He doesn't like those students who have forgotten their nation coming in the grip of more money and power.

### **Women Education**

A woman is the best creation of God but it has been a victim of merciless attitude and disrespect. Dr. S. Radhakrishnan says that a woman should be given her due share of respect. He believes that women are having any weaknesses in comparison to men. He has given more emphasizes on the upliftment of women. Women should also all possible chances for their education. He draws our attention saying that a child grows in the lap of woman. If mothers are cultured, educated and aware they can bring up their kids well as mothers are first teachers in the society so we should not neglect them. The children who have been brought up in the cultured environment, they progress more in their lives. Dr. S. Radhakrishnan has given his suggestions keeping in view the

#### **importance of women:-**

- There should be extension in the education facility of all women.
- They should be given such a education to enable them to be a good mother and good housewives.
- Worthy men and women counsel the women for their betterment in lives.
- They should not merely follow the men but get the education which is appropriate for them.
- Dr S. Radhakrishnan says that a good family can only survives if men and women get similar education and no disparity is found in their education.<sup>10</sup>
- There should be suitable Syllabus of education for them so that they could lead successful lives.
- Our Higher Education Commission has suggested the subjects of Economics, Nursing, Teaching and co curricular activities for the education of women.

### **Conclusion**

Dr Radhakrishnan always believed that education is a spiritual development. This is the training of character, ethics and development. This is also process of development of both the men and society. He does not forget to explain the importance of character in the life of man. He says that character is the most inspiring power in all the world powers. It produces strong will power. It helps in developing human values. He says," A character is destiny. A country is built up by the character of that country. A weak character can not construct a strong nation so that main task of the education should be character building. We always must try to produce national unit and integrity in the country, because these are out ideals which can be adopted in our lives. The main goal of education should be the development of democratic citizenship. The success of democracy depends on those men, who are worthy, skilled aware of rights and duties and always away from narrow-mindedness.

He emphasizes that the goal of education should be the development international understanding so that human race could be united. We know that people have different caste, colors, creed and religion in different countries of the world but they all are human being and they have the same soul, their ideals and values are equal so the great necessity of today is there should be sense of human unity in all the students. He believes in secularism. He is supporter of integrated curriculum. He is fond of all types of literature. He respects the teacher very much. He had produced the outline for the Primary, Secondary and higher education teachers. Dr Radhakrishnan also had given importance the religion in his educational views too. He says that development of soul is with the help of religion.

In the last, it can be said that Dr Radhakrishnan has touched all aspects of lives. He was a great educationist, philosopher and good writer. He devoted his all life to the cause of nation. He is really admired in all groups of society.

### **References**

1. *President Radhakrishnan Speeches & Writing. Mar 1962 to 1964*
2. *The Rajendra Prasad, great educationist of India Deptt. Of Public info & broadcasting Ministry Govt. of India 1992.*

3. *Sharma, R.A(2011) Fundamentals of Educational Research and Statistics. 10p*
4. *Dr Pal and KL Agarwal. General Theories of Education, Vasundhara Publication 1999, 99p*
5. *President Dr S. Radhakrishnan Speeches and Writings. March 1962 to 1964.*
6. *President Dr S. Radhakrishnan Speeches and Writings. March 1962 to 1964. 267p*
7. *Whitehead A.N(1969) Psychological Principles applied to Classroom teaching. New York, McGraw Hill. 228p*
8. *Dr S. Radhakrishnan: Creative Life. Hind Pocket Books New Delhi, 1989. 16p*
9. *Dr S. Radhakrishnan: Creative Life. Hind Pocket Books New Delhi, 1989. 56p*
10. *Dr. S. Radhakrishnan: Liberty and Culture, Sanmarg Publication, Delhi, 1974. 127p*

## Women in World : A Comparative Study

**Dr. Prerna Singh Lavania**

Lecturer, Kanoria P.G. Mahila Mahavidyalya, Jaipur

**Dr. Prem Singh**

Assistant Professor, Laxmi Devi Institute of Engineering and Technology, Alwar



shodhshree@gmail.com

**W**omen rights are well established, partly due to the heritage of feminism, constant pressures from women groups and organizations on the international establishment to put gender equality on the global agenda. These efforts had some tangible results and importantly, women themselves are more aware about their rights. There were significant changes in the socio-economic conditions of the women all over the world and international efforts remained result oriented in motivating the countries of world to sign United Nations Conventions relating to human rights in general and women rights in particular. In addition, international assistance is possible in starvation, disasters and war-affected people facing various problems, visible from following factors:

- More women are working, as growth of women force remained substantially higher than men in every region of the world except Africa.
- More girls are being educated and gap between boys and girls enrolment has narrowed significantly, even in Africa.
- Women are living longer, as their expectancy has increased substantially in developing countries from 53.7 in 1970 to 64 years in 2000.
- Women are having fewer children and 50 percent of women have access to modern contraceptives.
- There are more women in politics specially at grass-root levels. In 22 countries, women represent more than 25 percent in their respective governments.
- Legislation from international to local levels recognizes that women's rights need to be protected.
- There are more liberal marriage laws in some countries and average age of marriage is going up constantly.
- Lesbian women in some countries have more rights than earlier and 19 northern countries have some legislation recognizing same sex relationships.
- Female genital cutting has been outlawed in six African countries, which was serious and heinous act against women.

These facts represent one gloomy side of the gender issues, but the darker side is further disheartening, as 1.3 billion people living in poverty consist of 70 percent women. In parts of the north, the discrimination in earning of male and female persists, as Britain women are earning 63 percent of male earning for same tasks. Women's share in decision-making has reached to 30 percent in 28 western countries. Beliefs and practices are being dredged up from the past by fundamentalists and recast, sometimes in countries, where they were never common practice. In Sri Lanka, some groups demanded female genital cutting, sometimes known as female genital mutilation, as an Islamic duty despite the fact that no one in Sri Lanka had ever practiced female genital cutting and that had nothing to do with Islam.

In Pakistan, there were attempts to import a North African interpretation of religious law, in which a woman always remains a minor and is never able to enter into a contract to her own right. This is part of Algerian and Moroccan law, but had never been part of religious practice in Pakistan. In Algeria, Muta's marriage was introduced in fundamentalist military camps, which is a temporary marriage, which can be entered into four years, months or few days and requires consent of both parties. It was a Shi'a practice and had never been used in Algeria, until fundamentalist men wanted to give legal sanctity to make rape of young women in villages, they raided and intended to make such acts legitimate.

The Islamic approach to women rights is treated as such issues are western propaganda and they want to get rid of such nuisance in their own society, which is governed by Islamic law. Such views are not confined to Muslim world as in Uganda, which has positive record on women rights, an amendment to Land Act, which was intended to give women the right to own land was rejected by President Museveni on the grounds that such action was to save the world from mistake of the west. It was further added that it was like telling Karimojong nomadic herders that Parliament has passed a bill allowing women to share cows and allowing the land rights would start civil war in the country.

The Women of Uganda network remarked that the ideological stance of President was trapped in

1960s time-warp and raising gender issues were out of step. But women rights entered suddenly into Uganda along with the import of Coca Cola, Levi Jeans and Pornography. The irony was huge quantum of thinking and pushing through women issues over 20 years came from women of south. The notion of feminism of western was bandied by those ignorant in deligitimatizing way and compelled to accept that feminism is a plant only grows in its own soil. For some Muslim women, veiling remained wider part against western statement.

This approach was against earlier liberation of throwing off veil, but later accepted the approach of veiling by most of Muslim women. Events of 11 September 2001 exacerbated, where most of Muslim people were forced to choose specific identities to separate them from Christians and whites and had direct impact on Muslim women to feel very conscious about being different to feel very personal and to express feelings of mistrust and unwanted white persons. The climate of fear in Britain against racism meant negative public attitude towards asylum-seekers, when they needed refuse. Women claiming refuse on the basis of gender persecution had become more difficult, when western governments were trumpeting the cause of women of other countries.

The backlash of moral family values was back to fashion and Republic Senator of Bush administration stated that feminists and liberals were hurting American families.

Major women rights organizations of US released scorecard rating Bush Administration on key issues affecting women internationally meriting B+ for rhetoric and F for reality. Despite pro-women rhetoric, the Bush Administration slashed social programme for single mothers, attacked affirmative action for women, cut funds to national or international women organizations supporting abortion, tied large chunks of HIV and AIDS funding programmes of promoted sexual abstinence and appointed right wing radicals to powerful positions, who had conservative views on women.

### **Women's Rights From Retrospect**

In the west some and women felt strongly that women's rights were granted at the cost of men's

rights and men's movement in Britain at the student end expressed their sentimental feelings that they regarded the assertion that women were disadvantaged as the big lie of that time and feminism was based on big lie. There can be no greater folly or degeneracy than to provide further support, via Ministers for Women etc to the most privileged group of society. Women, while denying the disadvantaged, suppressed and persecuted group, men had any similar representation to express their sentiments. Feminism about women is getting something for nothing.

The issue of feminism had gone to far, is less important that the feminism has been established at all. Feminism is an aberration, like Nazism and communism, blight on their society. They are not the only one to see feminism and the gains women have made in this light. A South Africa study suggests that recently reported high level of violence against women may be partly fueled by male backlash against progress, women had made. Researchers have referred as 'neo-patriarchy- a new attempt to exert male authority, in this case through a culture of sexual violence.

Women are not just submitting to these assaults passively and in many Muslim countries, they are arguing for the right to define the Palestinian women's legal reform movement and insist for avenues of Arab women's rights within the context of Islam. Solutions of the problems of Muslim women exist in Islamic system, as there are different schools of Islamic jurisprudence. In Iran, women have been educated since separate education system for girls and boys was introduced after 1979 revolution and there is quite revolution for women rights. Girls were wearing wispy coloured scarves and their long coats were getting shorter.

The authorities started fighting back and issued an order in May 2003 calling for an end to manufacture and sale of transparent scarves and tight fitting coats. Muslim women engaged in manufacturing of school clothes had resented over the order by mentioning that everyone should have right to wear according to liking. Reformist members of Parliament stated that if women could not get clothes they wanted, women should stitch as per their liking. It was further

revealed that the issue was not limited to clothes, women intended to wear, but one of three marriages in Tehran ended in divorce. Women were working as doctors, lawyers and managers and once women stepped out into street, she cannot remain traditional women any more.

Iranian human rights lawyer Shirin Ebadi stated that generations of astute, thoughtful Muslim women listening to Quran understood perfectly well its essential themes and its faith. Looking around them, they understood well travesty men had made it according to their whims. Their problem was not with the Islam but it existed with the culture of patriarchy- a system based on male power has been challenged all over the world. There is real sense that women have not just made practical steps forward, but at all levels, they have gained confidence as result of the changes wrested from those in power over last few decades. This was not a northern phenomena alone, but for cultural change of women rights.

Snapshots of history shows that women have always struggled for their rights and the progress is not straight line, as many societies where women are most repressed today were the most enlightened in the past. History shows that rights can be won and they can also be taken away. There remained some landmarks in the past, where women struggled for their rights for centuries and suffered severely at times in the process of their struggle. Each country had its religious sentiments and status of women remained changing with the ruling community and religious heads, who had their active role in political decision making at the apex levels.

In 900 BC, in ancient Sumer i.e. Iraq, Egypt and Japan, adult women could own property, play active role in marketplace and even be clerics. In pre-colonial Latin America, some native cultures practice, which the anthropologist call 'gender parallelism' valuing equally the distinct and overlapping tasks performed by men and women. The agrarian societies that follow tend to less egalitarian. In 1400s, trade brought new status to women in some countries. In Nigeria, among the Igbo, a wealthy woman can buy a wife to work with her and Yoruba women elect their own female representatives to protect their trading interests.

During French revolution of 1776, working women march on Versailles to demand bread was responsible to change ruling system of the country. In 1791, this inspired French playwright Olympe de Gouges to issue the Declaration of the Rights of Women and the Female Citizen. She is executed by guillotine, when demands for women's rights were rejected. In Britain, Mary Wollstonecraft rejected conventional family authority in 1792, believes in female education and bearing child, out of wedlock and wrote a vindication of the rights of women, which becomes a catalyst for subsequent feminist thinking. The struggle for women rights remained a continuous process worldwide.

In 1848, first global women rights convention was held in Seneca Falls, New York participated by men and women, where agenda for women's movement was set. In Brazil, women's urban newspapers like *O Jornal das Senhoras* or Ladies' Journal complained that marriage is an unbearable tyranny and women deserve a just enjoyment of their rights. In 1861, emancipation of serfs raised expectations of equality of Russian women. Japanese women's movement was founded during the decade 1880-90, where Kishida Toshiko was jailed for a week after calling for women's horizons to be as large and free as the world itself. As consequential impact, Japanese Government had to eventually ban women's political participation.

In 1893, New Zealand became first country in the world to sanction voting rights to women. In 1896, National Association of Coloured Women of United States, founded by Margaret Murray Washington to unite Black Women's organizations and elected Mary Church Terrell its first president. The NACW became a major vehicle for reforms during next forty years. During 1890-1923, Islam was used to justify education for women. In 1923, Huda Sharawawi founded the Egyptian Feminist Union. Egyptian women were at the forefront of the battle for independence from Britain.

In 1911, socialists observed 8th March as day to honour for women, who organized strikes for better working conditions. In Mexico, Jovita and Soledad Pena organized La Liga Femenal Maxicanista- the League of Mexican Feminist. In 1913, South Africa, traditional women's

organization viz., Manyano acted as saving clubs for poor women and these women were at the forefront to fight against apartheid. In 1920, African American women met to discuss the mode for their standing side by side with white race women and work for full emancipation of all women Lugenia Burns Hope.

In 1926, as part of modernization programme, Kamal Ataturk of Turkey abolished polygamy making schools and universities co-educational, gave political rights to women and recognized equal rights of women in divorce, custody and inheritance. The women war of 1929 in Nigeria was consequential impact of response among Igbo women's trading networks to planned imposition by British rulers of a new tax on women's property. The British put down women revolt by firing into the crowd killing at least 50 women and injuring another 50. This move of the British Government was to curb women rights to provoke protests.

In 1941, almost 7 million women of United States could get jobs in view of entry of civilians in to armed forces. About two million women were placed in the industrial units and 400,000 women jointed arm forces. In 1947, Gandhiji expressed strong opposition towards male domination over female and first Prime Minister Jawaharlal Nehru advocated for equal educational and work opportunities for women. Nationalists adopted a slogan as India cannot be free until women are free and women cannot become free until India is free. In 1947, the Constitution guaranteed equality between sexes.

In 1948 Doria Shafik of Egypt formed Daughters of Nile Union and in 1951, she organized an invasion of the Egyptian Parliament by women and in 1953 created women's political party, which was suppressed by the Government. In 1959, about 2000 women of eastern Nigeria protested for their declining status by occupying and setting fire to a market. They negotiated a resolution that eliminated all foreign courts and schools and expelled all foreigners from the area. In 1977, Argentinean women formed a 'Mothers of the Plaza de Mayo' to defy the murderous military junta that seized powers from the President Isabel Paron of Argentina.

Duration from 1975 to 2001 remained the birth

and growth of the feminist movement in various parts of the world. First International Women Conference in Mexico launching the United Nations decade for women and formation of women's groups all over the world, including feminist newspapers, students organizations, professional women and lesbian feminists. In the later duration conferences in Copenhagen in 1980, Nairobi in 1985 and Beijing in 1995 were milestones in the sphere of women rights. After declaration of United Nations covenants, various countries of the world signed in acceptance of human rights as well as women rights.

### References:

1. *Gaag Nikki Van der (2005) The No-nonsense Guide to Women Rights page 11-16.*
2. *Juni Saager (2003) The Atlas of Women, Women's Press Oxford.*
3. *Women, War and Peace: World Report on Violence and Health, World Health Organization 2002.*
4. *Anupama Shandilya (2006) Changing Status of Indian Women: A Myth or Reality.*
5. *Census of India, 2011 Rajasthan*
6. *Reports of State Women Commission, Rajasthan.*

# Role of Microfinance in Economic Development with special Reference to U.P.

Tanu

Assistant Professor, Satyawati College, University of Delhi, Delhi



shodhshree@gmail.com

**M**icrofinance is a source of financial services for entrepreneurs and small business lacking access to banking and related services. The two main mechanisms for the delivery of financial services to such clients are: 1. Relationship-based banking for individual entrepreneurs and small business 2. Group based models, where several entrepreneurs come together to apply for loans and other services as a group. Microfinance is a movement whose object is a world in which as many poor and near-poor households as possible have permanent access to an appropriate range of high quality financial services, including not just credit but also savings, insurance and fund transfers. Many of those who promote microfinance generally believe that such access will help poor people out of poverty, including participants in the microcredit summit campaign. Microfinance is a way to promote economic development employment and growth through the support of micro entrepreneurs and small business. Microfinance is a broad category of services which include microcredit. Microcredit is provision of credit services to poor clients.

## Features of Microfinance

- Loans are given without security.
- Loans to those people who live BPL.
- Even members of self-help group enjoy Micro finance.
- Maximum limit of loan under micro finance is Rs. 25,000/-
- The term and conditions given to poor people are decided by NGOs.
- Micro Finance is different from Micro credit under micro credit, small amount of loans given to the borrower but under micro finance besides loans many other financial services are provided such of savings account insurance etc. Therefore, Micro Finance has wider concept as compared to Micro Credit.

## Central Government Initiatives (s)

The central and state Govt. has taken a plethora of initiative to promote housing and housing finance in the country. Some of the key schemes being implemented by the Govt. of India summarized from the 2011 report of the

working group on rural housing for the XII five year plan and various central and state Govt. websites are :

- **Indira Awas Yojna (IAY)** This scheme is targeted at BPL families by providing them cash subsidy to build low cost houses. Funding is jointly provided by the central and state govt. in the ratio of 75:25 launched in 1998-99, the scheme intends to build 2mn additional houses subdivided into 1.3 mn in rural areas and 0.7 mn in urban areas.
- **Golden Jubilee Rural Housing Finance Scheme (GJRHFS)** This scheme was announced in 1997 to improve access to housing finance in rural areas. During 1997-2012, a total of 35 mn housing units were financed by HFCs and cooperative sector institutions achieving 94% of the targeted 37.3mn units. The scheme has been instrumental in providing increased access to institutional credit in rural areas at the Pan-India level.
- **Bharat Nirman** This programme was launched in 2005 with the visions of accelerating infrastructure development (including housing) in rural areas. The scheme has been a success so far with 7.2 mn, houses constructed in the first phase (2005-09) against a target of 6mn units. The scheme has been extended till 2014 with 12mn additional houses targeted to be built during 2009-14. The second phase is also progressing well with 9.5 mn houses already built till 2012.
- **The national urban housing and Habitat policy 2007** This policy aims to achieve affordable housing for all by promoting public - private partnerships.
- **Affordable housing partnership** This scheme introduced by the Govt. of India,

envisages construction of 1mn houses for the economically weaker and low income households with total outlay of Rs. 5bn.

- **Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission (JNNURM)** was launched in December 2005 with the aim of improving infrastructure facilities in urban areas across the country. The program has been launched in 63 cities and includes construction of houses in rural areas.
- **Rajiv Awas Yojna (RAY) :-** This scheme has been introduced basic housing facilities to the urban poor and provides for founding assistance to states for implementing slum re-development and affordable housing projects. During the 12th five-year plan period the scheme is expected to be rolled over 250 cities.

#### **Case Study Golden Jubilee Rural Housing Finance Scheme**

The objective of the scheme is to address the problem of rural housing through improved access to housing credit which would enable an individual to build a modern new house or to improve or add to his old dwelling in rural areas. "Rural Area" for the purpose of the scheme is the area comprises in any village including the area comprised in any town, the population of which does not exceed 50,000 as per the 1991 census. The scheme envisages at normal rates of interest, the provision of institutional credit to individual desirous of constructing/acquiring new dwelling units and for improving or adding to existing dwelling units in rural areas.

There are two channels for implementing the scheme. The first channel comprises exclusively, the commercial banks and the second channel will comprise institutions like :- ARDBs, ACHFS, RRB and HFCs,. At the time of formation of the scheme, it was envisaged that the commercial

Institutions	FY2012-13	
	Target	Achievement
	No. of Units	No. of units.
HFC	1,40,000	2,02,941
PSBs and RRBs	2,60,000	2,15,963
<b>Total</b>	<b>40000</b>	<b>4,18784</b>

bank being the largest mobilisers of savings in the economy and having a vast network of branches, including 'rural' would play an important role in successful implementation of the scheme. It was therefore, envisaged, that they may take a major share of the purposed disbursement under the scheme. The performance under the scheme is being closely monitored by the NHB.

The primary lending institutions (PLIs) were required to report the progress on quarterly basis to the NHB in the prescribed format. The Reserve bank of India advised the conveners of all state

Level Bankers Committee (SLBC) to closely monitor the progress of the scheme in the SLBC meetings.

**Outreach:** The annual targets under the scheme (in terms of number of units financed) are set by the Govt. of India and NHB sub-allocated the targets to implementing agencies and monitors its implementation. For the FY-2012-13 4,18,784 units against a target of 400,000 units have been financed cumulatively, more than 20.2 million dwelling units have been constructed.

Purpose	Share in amount	Share in number
1. Directly income generating activities	52.0	28.0
1.1 Agriculture	12.0	5.0
1.2 Livestock	1.0	1.0
1.3 Business/Shop	39.0	21.0
1.4. Silk Business	14.0	6.0
2. Consumption related activities.	44.0	70.0
2.1 House construction	0.3	0.3
2.2 Education	6.0	6.0
2.3. Health	36.0	61.0
2.4 Ceremonial expenditure	2.0	2.0
2.5 others	0.05	0.04
3. Not reported	4.0	3.0
	100	100

Percentage distribution of households reporting at least one loan outstanding by interest rate classes.

Number of SHGs classified by the dropout/addition of members

Dropout rate	Number of SHGs	Percentage of SHGs
With dropouts	18	51.4
With no dropouts	15	42.9
With additions	2	5.7
Total	35	100.00

Number of SHGs with dropouts by dropouts rate

Dropout rate	Number	Percentage
0 <= rate <= 5	1	5.6
5 <= rate <= 10	8	44.4
10 <= rate <= 15	4	22.2
15 <= rate <= 20	4	22.2
20 <= rate <= 25	1	5.6
total	18	100.00

## Initiatives in U.P

The U.P. urban housing policy aims at encouraging cost-effective measures to make affordable housing a reality for EWS/LIG families. Under the policy, every EWS/LIG plot would also include the provision to set up a shop on a business unit.

- Statistical Data on Micro finance and self help Groups
- Percentage distribution of loans from SHGs by purpose.

## Concluding Observations

This study is attempted to understand the scale and spread of micro finance as an important tool of financial inclusion in India using secondary level data.

Following are the major concluding observations from the exercise based on secondary data. First, micro finance albeit its expansion has remained a minuscule of bank credit in India. In 2007, that is a decade and half since it's in option in the form of SHG-bank linkage program, credit to SHGs constituted less than one percent of the total bank credit from schedule commercial banks. Secondly, the data available for the last five years show that there has been a falling trend in the percentage share of bank credit to and loan accounts held by SHGs. Thirdly, there has been considerable regional disparity in terms of the spread of micro finance in India. The southern regional disparity in terms of the spread of micro finance in India. The southern region of India is way ahead of the other regions not just in terms of the absolute number of SHGs formed and the bank credit supplied to these SHGs but also in terms its coverage of poor persons residing in this region. A comparison with the number of poor persons is useful as micro finance is essentially a means of providing bank credit to the poor sections of the population. Given that the southern region has been historically one of the well-developed regions in terms of banking infrastructure, this concentration of Micro finance undoubtedly adds to regional disparity. Fourthly, as micro finance is primarily driven towards women, the coverage of women under the existing banking network can also be an indication of the spread of micro finance. Though there are about 93 women per 100 men in India, there were only 21 loan

accounts per 10,000 women as compared to 118 loan accounts per 10000 men in the country. Further, on an average, the amount of bank credit outstanding per women worked out to Rs. 20 far Rs. 100 outstanding per man. This disparity in terms of deposits was little less but it still reflected the wide gap that provided in the financial inclusion of women vis- a- vis men. To conclude, the findings of the study reflect the significantly limited scale and spread of micro finance in India. The continued dependence of women member belongings to mature SHGs on informal sources corroborates the point made earlier regarding the spread of micro finance. The high interest rate SHG loans also points towards the affordability of micro finance for the poorer borrowers who in effect are expected to have a very high rate of return from their business ventures in order to just cover the interest cost. Hence, the observation made in this note reflect the considerable scope for micro finance to evolve as a means of financial inclusion that is accessible and affordable for the excluded groups/regions and that can help loosen the grip of informal sources of finance and bring the excluded sections permanently into the ambit of formal finance.

## References

- 1 <http://www.livemint.com/2011/04/25212545/Six-months-on-loan-defaults-m.html>
- 2 *The actual number could be higher as these estimates do not account for multiple accounts by a single individual. Source: "Financial Inclusion - The Indian Experience" Speech by Smt. Usha Thorat, Deputy Governor, Reserve Bank of India at the HMT-DFID Financial Inclusion Conference 2007, Whitehall Place, London, UK on June 19, 2007.*
- 3 <http://www.livemint.com/2011/01/17213953/Moneylenders-push-up-interest.html?type=tpiv>
- 4 *Consolidation of data on Indian MFIs at [www.mixmarket.org](http://www.mixmarket.org).*
- 5 *Intellect estimates.*
- 6 <http://indiamicrofinance.com/wp-content/uploads/2010/10/Andhra-MFI-Ordinance.pdf>
- 7 *Interest rates on credit cards in India range from 29.88% to over 45%. <http://www.microfinancefocus.com/content/exclusive-54-microfinance-related-suicides-ap-says-serp-report> ix 14,500 suicides occurred in Andhra Pradesh in 2009 according to the National Crime Records Bureau*

- 8 [http://www.intellecap.com/assets/82/Intellecap\\_Microfinance\\_White\\_Paper\\_Oct\\_2010.pdf](http://www.intellecap.com/assets/82/Intellecap_Microfinance_White_Paper_Oct_2010.pdf)xi [http://blogs.cgdev.org/open\\_book/2010/11/when-indian-elephants-fight.php](http://blogs.cgdev.org/open_book/2010/11/when-indian-elephants-fight.php)
- 9 AP Microfinance Ordinance - "Whereas these SHGs are being exploited by private Micro Finance Institutions (MFIs) through usurious interest rates and coercive means of recovery resulting in their impoverishment & in some cases leading to suicides, it is expedient to make provisions for protecting the interests of the SHGs, by regulating the money lending transactions by the money lending MFIs and to achieve greater transparency in such transactions in the State of Andhra Pradesh"
- 10 [http://blogs.cgdev.org/open\\_book/2010/11/when-indian-elephants-fight.php](http://blogs.cgdev.org/open_book/2010/11/when-indian-elephants-fight.php)
- 11 Intellectap analysis of data on MFIs at [www.mixmarket.org](http://www.mixmarket.org) and NABARD's data on SHGs
- 12 [http://www.intellecap.com/assets/82/Intellecap\\_Microfinance\\_White\\_Paper\\_Oct\\_2010.pdf](http://www.intellecap.com/assets/82/Intellecap_Microfinance_White_Paper_Oct_2010.pdf) xvi 'Scaling-up Microfinance for India's rural poor' - World Bank Policy Research Working Paper 3646, June 2005 xvii The Ordinance became law in December 2010 with the enactment of the AP Act.
- 13 <http://indiamicrofinance.com/wp-content/uploads/2011/01/Malegam-Report-Issues-Microfinance-India>.

# A Rising Epidemic : Overweight and Obesity in Adolescent Girls in Jhalawar, Rajasthan

**Dr. Savita Swami**

Lecturer, Government Girls P.G. College, Jhalawar

**Shruti Hada**

Research Scholar, University of Kota, Kota



shodhshree@gmail.com

**A**dolescent obesity is one of the major global health challenges of 21st Century. According to the World Health Organization (WHO) there were about 1.6 billion overweight adults aged 15 years and above at least 400 million adults are obese worldwide in 2005. Obesity increases the risk of chronic diseases such as diabetes mellitus, cardiovascular disease, stroke and some cancers. It is a serious public health problem that is growing in countries with low or middle income. The first psychologist who systematically conducted research on adolescent was Hall (1844 – 1924) who in the beginning of the present century collected enormous data on adolescents. He defined adolescent in terms of psychological changes occurring in adolescents. He begins this period from 10 – 13 years of age and ends when full adult status is attained by 22 -25 years of age. According to hall 'adolescence is a period of storm and stress.

Overweight and obesity are defined as abnormal or excessive fat accumulation that may impair health<sup>8</sup>. It is generally recognized that increase in body weight over the normal is due to the fat deposition in the body. Body Mass Index (BMI) is a simple index of weight for height that is commonly used to classify overweight and obesity in adults. It is defined as a person's weight in kilograms divided by the square of his height in meters (kg/m<sup>2</sup>). Overweight and obesity are determined by the BMI percentile as per WHO criteria 85<sup>th</sup> to less than the 95<sup>th</sup> percentile overweight, > 95<sup>th</sup> percentile obese.

## According to WHO:

BMI greater than or equal to 25 is overweight.

BMI greater than or equal to 30 is obesity.

Overweight and obesity are the fifth leading risk factors for global deaths. At least 2.8 million adults die each year as a result of being overweight or obese. Overweight and obesity are linked to more deaths world wide than underweight. For examples 65% of the world's population live in countries where overweight and obesity kill more people than underweight (this includes all high income and most middle income countries). Obesity is associated with the onset of major chronic diseases leading to complications and also psychosocial problems in adults. The greater concern is that the risks of obesity during childhood will persist into adolescence and adulthood.

Tackling the problems of the growing numbers of overweight individuals is a major challenge for most countries. The fundamental cause of adolescents overweight and obesity is an energy imbalance between calories consumed and calories expended. The problem of obesity demands a population – based multi spectral, multi – disciplinary and culturally relevant approach which can prevent from the huge expenses involved treating this epidemic.

Health and nutrition are the contributory factors for the human resource development of country. Nutrition status of adolescents is of particular importance since it is the adult group that is primarily responsible for rendering economics support to the society as a whole. Adolescents play pivotal role in the overall progress of a country as they constitute the major chunk of human resource of a nation. The tremendous socioeconomic developments over the past thirty years has resulted in unprecedented economic affluence which has brought about drastic changes in the life style of the Indian Communities especially in food consumption patterns and undesirable life style alterations. Unfortunately a large number of adolescents are also falling prey to obesity and its associated diseases. International studies have shown that 100% of morbidly obese children will become morbidly obese adults. A good number of these children suffer from insulin resistance, pre-diabetes or disease, high blood pressure, diabetes are called modern lifestyle diseases. Adolescent obesity is not limited to developed countries. It is seen in developing nations too.

Importance of the study is to create mass awareness about obesity among adolescents and to thus act as a change agent for better life style and preventing obesity. Along most city streets it is hard to miss the fast food restaurants on every block. For most it is a quick, calorie Laden meal often containing enough fat to fulfil an entire day's allotment. Adolescents are particularly vulnerable to these places and for the inner city child this is often their special dinner out. Just as fast food restaurants attract the adolescent population, so does the constant bombardment of advertisements. The sole purpose of advertising is to entice and persuade individuals to buy products. Advertisement for candy, gum, soda,

snacks and fast food target the youth market and can influence food beliefs and eating patterns. Commercials tend to encourage snacking between meals. Pizzas and burgers and junk food joint have become a hot spot for adults now days to fill their stomach.

The epidemic of obesity is a substantial health burden worldwide and its impact is being observed in developing countries as well. However the problem is of a larger magnitude in developing countries like India where a significant proportion of the population belongs to younger age group. Rising prevalence of obesity in India may be attributed to various factors, like sedentary life style, unhealthy food habits, cultural practices and increasing affluence of middle class population. However limited literature is available on prevalence of Adolescent obesity in India. While under nutrition in children has been the major public health concern in India over the past several decades, little attention has been paid to childhood overweight and obesity until recently. The emerging evidence suggests an increase in over nutrition status among children as well as adults. The National Family Health Survey ( NFHS -3 ) 2005 Rural data showed that combined prevalence of obesity was 9.3% and 12.6% among men and women aged 15 – 49 years, respectively. The importance of the study is to determine health status of adolescents.

### **Objective**

- To assess the prevalence of overweight and obesity among adolescent girls.
- To create mass awareness about overweight and obesity.

### **Methods**

The present study was conducted on 571 adolescent girls aged 12 to 18 years in Jhalawar. Eight schools were randomly selected by using a random table. Height and weight was measured and BMI was calculated. Overweight and obesity was assessed by BMI for age >85th and <95th percentile of reference population were classified as obese.

### **Result**

The overall prevalence rates of overweight and obesity were 28.5% and 4.2% respectively.

## Conclusion

In the context of the present study, it can be presumed that the higher prevalence of overweight and obesity in adolescent girls in Jhalawar, Rajasthan.

## Suggestions

It has been recognized that the increasing prevalence of adolescents overweight and obesity results from changes in society.

Approaches pertaining to life style and community based needs to be implemented in order to address this silent epidemic.

### (A) Life style approach

- Healthy eating patterns
- Increasing physical activity levels.

### (B) Community based programmes

- Training and orientation of teachers in lifestyle, nutrition and activity.
- School health check – ups on regular basis.

Hence close monitoring of overweight and obesity prevalence in adolescents and taking timely preventive measures will be an effective approach in dealing with the problem of overweight and obesity.

## References

1. Bhardwaj S, Misra A, Khurana L, Gulati S, Shah P, et al (2008). Childhood obesity in Asian Indians : a burgeoning cause of insulin resistance, diabetes and sub clinical 1 inflammation. *Asia Pac J Clin Nutr* 17 Suppl 1 : 172-175.
2. Dasgupta A; Taraphdar P. Weight Control practices and body weight status among adolescent girls. *Antiseptic*. 2006; 10 3(6): 341-343.
3. Hall, G. Stanley (1977). *The Adolescence*. New York: Mac Millan.
4. NFHS (2005) Key Findings Report, National Family Health Survey (NFHS-3). Ministry of Health and Family Welfare, Government of India.  
<http://www.nfhsindia.org/nfhs3.html>. Accessed 2011Jan03
5. Swaminathan M, *Essentials of Food and Nutrition : Human body Composition, 90, Vol 1 Published by The Bangalore Printing and Publishing Co. Ltd. No. 88*
6. World Health Organization: *Facts about overweight and Obesity, Media Centre, Fact Sheet No 311, May 2012.* \ <http://www.who.int/mediacentre/factsheets/fs311/en/>
7. World Health Organization: *Some WHO Global estimates from 2008 follow, Media Centre, Fact Sheet No 311, May 2012.* <http://www.who.int/mediacentre/factsheets/fs311/en/>
8. World Health Organization: *What are overweight and obesity, Media Centre. Fact Sheet No 311, May 2012.* <http://www.who.int/mediacentre/factsheets/fs311/en/>
9. World Health Organization: *WHO Definition, Media Centre. Fact Sheet No 311, May 2012.* <http://www.who.int/mediacentre/factsheets/fs311/en/>

# Corporate Social Responsibility of Corporate "Is CSR Corner Stone for Enduring Success?" A Case Study of Indian Oil

Manish Madan

Assistant Professor, Maheshwari College of Commerce & Arts, Jaipur



shodhshree@gmail.com

**T**he origins of CSR trace back to the 1960s, when issues such as the civil rights movement and environmental activism became part of the public debate. During this time, some businesses began to question their responsibilities in areas such as hiring individuals from minority groups and protecting the environment. In 1972, at the United Nations Conference on the Human Environment in Stockholm, Sweden, representatives pondered questions about striking a balance between business activities and their impact on the community. One of the principles adopted from that conference was that "in order to achieve a more rational management of resources and thus to improve the environment, countries should adopt an integrated and coordinated approach to their development planning so as to ensure that development is compatible with the need to protect and improve the environment for the benefit of their population."

Managing CSR-related issues requires a strong sense of ethics and the ability to take the necessary steps to 'do the right thing' as new situations arise, even when what constitutes the right course of action might not be clearly defined. Many experts will attest that corporate leaders who develop a reputation for taking an ethical stance on issues are more likely to possess a good moral grounding and sense of direction for troubled times when difficult decisions have to be made. Such decisions often involve more than having pre-ordained ideas of what is right or wrong. Rather, CSR-related ethics can involve handling complex situations and dilemmas, often during times of crisis or uncertainty, with no clear-cut rules, regulations, or even guidelines to follow. That's what makes them so challenging.

One challenge to nailing down a definition of CSR within organizations is that the concept of *corporate social responsibility* itself goes by many different names. What is called corporate social responsibility in one organization might be given the label *spiritual capitalism* in another. Below is a list of the most common labels used by companies in referring to the things they do involving CSR:

- Corporate responsibility
- Sustainable development
- Sustainability

- Environment, social, and governance (ESG)
- Social enterprise
- Global citizenship
- Corporate citizenship
- Values-driven business
- Natural capitalism
- Spiritual capitalism
- Compassionate capitalism
- People, planet, profits

The biggest problem with CSR is not that it has limitations, nor is it concerning its questionable ability to sufficiently address the problems it intends to ameliorate. Rather, it is the fact that it takes people to a completely wrong direction. For many large corporations, CSR is primarily a strategy to divert attention away from the negative social and environmental impacts of their activities. In the Asian context, CSR mostly involves activities like adopting villages for what they call a 'holistic development', in which they provide medical and sanitation facilities, build school and houses, and helping villagers become self-reliant by teaching them vocational and business skills. Such corporate strategies have been effectively hegemonic, providing a strong legitimacy and license for corporations to sustain the exploitation of human and natural resources. More importantly, it leads people to wrongly assume that the business houses, and not the states, are responsible for citizens' basic rights to better education, clean water, healthcare, etc. It disciplines the un-informed poor motivating them to behave in ways that make state regulation obsolete, while leaving them at the mercy of market forces.

A popular explanation of the term CSR is the continuing commitment by businesses to behave ethically and contribute to economic development, while improving the quality of life of the workforce and their families as well as of the local community and society at large. Over the last years an increasing number of companies worldwide started promoting their business through Corporate Social Responsibility strategies because the customers, the public and the investors expect them to act sustainable as well as responsible. Ensuring that CSR supports, and does not undermine, the development of small and medium-sized enterprises in

developing countries is crucial to meeting the goal of improving the impact of business on society. Small and medium-sized enterprises make up more than 90% of all businesses worldwide and are essential to the 'path out of poverty' for many developing countries.

Corporate social responsibility, also called corporate conscience, corporate citizenship, social performance, or sustainable responsible business is a form of corporate self-regulation integrated into a business model. CSR policy functions as a built-in, self-regulating mechanism whereby a business monitors and ensures its active compliance with the spirit of the law, ethical standards, and international norms. CSR is a process with the aim to embrace responsibility for the company's actions and encourage a positive impact through its activities on the environment, consumers, employees, communities, stakeholders and all other members of the public sphere who may also be considered as stakeholders.

David Connor wrote: CSR and related buzzword variations should be seen as an ambassador to the historically narrow and adversarial relationship between profit, society and the environment. By stretching planning horizons and understanding the more complex interlinked systems that CSR encourages the greater the benefit that is derived for all, just unfortunately not quick enough for many of today short term bonus focused investors. Richard Watts, wrote: "Corporate Social Responsibility is the continuing commitment by business to behave ethically and contribute to economic development while improving the quality of life of the workforce and their families as well as of the local community and society at large".

The term "corporate social responsibility" came into common use in the late 1960s and early 1970s after many multinational corporations formed the term stakeholder, meaning those on whom an organization's activities have an impact. It was used to describe corporate owners beyond shareholders as a result of an influential book by R. Edward Freeman, Strategic management: a stakeholder approach in 1984. Proponents argue that corporations make more long term profits by operating with a perspective, while critics argue

that CSR distracts from the economic role of businesses. McWilliams and Siegel's article (2000) published in Strategic Management Journal, cited by over 1000 academics, compared existing econometric studies of the relationship between social and financial Performance. They concluded that the contradictory results of previous studies reporting positive, negative, and neutral financial impact were due to flawed empirical analysis. McWilliams and Siegel demonstrated that when the model is properly specified; that is, when you control for investment in Research and Development, an important determinant of financial performance, CSR has a neutral impact on financial outcomes. Our objective here is to present a panoramic view of corporate social responsibility whether it is necessary for any organization or it is voluntary or it can be implemented through law or success of organization depends upon fulfillment of social responsibility.

Companies need to answer to two aspects of their operations. 1. The quality of their management both in terms of people and processes (the inner circle). 2. The nature and quantity of their impact on society in the various areas. Outside stakeholders are taking an increasing interest in the activity of the company. Most look to the outer circle - what the company has actually done, good or bad, in terms of its products and services in terms of its impact on the environment and on local communities, or in how it treats and develops its workforce. Out of the various stakeholders, it is financial analysts who are predominantly focused as well as past financial performance - on quality of management as an indicator of likely future performance.

### **Indian Oil and Corporate social Responsibility**

**Indian Oil Corporation Limited, or Indian Oil**, is an Indian state-owned oil and gas corporation with its headquarters in New Delhi, India. It is the world's 88<sup>th</sup> largest corporations, according to the Fortune Global 500 list, and the largest public corporation in India when ranked by revenue. Indian Oil and its subsidiaries account for a 49% share in the petroleum products market, 31% share in refining capacity and 67% downstream sector pipelines capacity in India. The Indian Oil Group of companies owns and operates 10 of

India's 22 refineries with a combined refining capacity of 65.7 million metric tonnes per year.

Indian Oil began operations in 1959 as Indian Oil Company Ltd. The Indian Oil Corporation was formed in 1964, with the merger of Indian Refineries Ltd. Indian Oil is the biggest oil producer and marketer Oil's product range covers petrol, diesel, LPG, auto LPG, aviation turbine fuel, lubricants, naphtha, bitumen, paraffin, kerosene etc. Xtra Premium petrol, Xtra Mile diesel, Servo lubricants, Indane LPG cooking gas, Autogas LPG, Indian Oil Aviation are some of its prominent brands. Recently Indian Oil has also introduced a new business line of supplying LNG (liquefied natural gas) by cryogenic transportation. This is called "LNG at Doorstep".

At Indian Oil, corporate social responsibility (CSR) has been the cornerstone of success right from inception in the year 1964. The Corporation's objectives in this key performance area are enshrined in its Mission statement: "...to help enrich the quality of life of the community and preserve ecological balance and heritage through a strong environment conscience." which succinctly portrays the commitment of the Corporation to its Corporate Social Responsibility (CSR). CSR and working with the communities has been the cornerstone of success for Indian Oil right from inception. The three thrust areas of the Corporation's CSR initiatives are 'Clean Drinking Water', 'Health & Medical Care' and 'Expansion of Education'. CSR projects are mostly undertaken in the vicinity of Indian Oil's installations or establishments for improving the quality of life of the community, which include marginalised groups viz., SCs, STs, OBCs, etc. Indian Oil's annual CSR budget has gradually increased from 0.5% of previous year's net profit in 1991 to 2% of previous year's retained profit effective 2009. As a constructive partner in the communities in which it operates, Indian Oil has been taking concrete action to realise its social responsibility objectives, thereby building value for its shareholders and customers. The Corporation respects human rights, values its employees, and invests in innovative technologies and solutions for sustainable energy flow and economic growth. In the past five decades, Indian Oil has supported innumerable social and community initiatives in India. Touching the lives of millions of people

positively by supporting environmental and health-care projects and social, cultural and educational programmes.

Besides focusing primarily on the welfare of economically and socially deprived sections of society, Indian Oil also aims at developing techno-economically viable and environment-friendly products & services for the benefit of millions of its consumers, while at the same time ensuring the highest standards of safety and environment. Policy on Corporate Social Responsibility of Indian Oil to incur expenditure up to 2% of the Retained Profit of the previous year towards corporate social responsibility every year, which would be utilized as 5% of the 2% of Net Profit of previous year to be allocated to Community Kitchen Scheme, 15% of the 2% of Net Profit of previous year to be allocated to Scheme for Free LPG connections for BPL families under Rajiv Gandhi Gramin LPG Vitarak (RGGLV) Scheme of Govt. of India, Rs.10.00 crore to be allocated to Indian Oil Foundation and out of the Balance Funds available, 40% to be allocated to flagship Indian Oil programmes and balance 60% to be utilized as per the following break-up: A minimum of 35% towards National Causes/Natural Calamities, 35% towards Community Development activities including Special Component Plan and Tribal Sub Plan and 30% towards IOC's Scholarship Schemes Indian Oil Educational Scholarships of which 50% amount would be utilized towards providing scholarships to the students belonging to SC/ST/OBC; 25% in each category/subcategory towards girl child and 10% in each category/subcategory towards Persons with Disabilities.

While utilizing the Community Development Funds, more emphasis should be laid on the projects of providing Clean Drinking Water, Health & Medical Care and Education to the extent possible.

### **Report on Corporate Social Responsibility**

Indian Oil believes that nurturing and nourishing symbiotic relationships between its business and society is a key determinant in achieving inclusive growth. **The Mission statement of Indian Oil "To help enrich the quality of life of the community and preserve ecological**

**balance and heritage through a strong environment conscience." Succinctly portrays the commitment of the Corporation to its Corporate Social Responsibility (CSR).** In the year 2010-11, a dedicated cell was created at the Corporate Office to specifically plan, monitor and co-ordinate the CSR activities. Further, additional dedicated manpower in middle management and senior management cadre was deployed at Divisional, Regional and unit levels.

### **Brief details of the flagship CSR programmes of Indian Oil are given below**

- **Indian Oil Sachal Swasthya Seva (Mobile Medical Units):** In January 2012, Indian Oil launched a primary mobile health care scheme titled 'Indian Oil Sachal Swasthya Seva' for operating Mobile Medical Units (MMUs), linked to rural petrol pumps (called Kisan Seva Kendras or KSK) of Indian Oil. In the pilot project, 52 MMUs have been launched in Andhra Pradesh and Uttar Pradesh covering 681 villages in 13 districts. Each MMU, with a 4-member team comprising a registered qualified Doctor, a pharmacist, a driver and a community mobilizer visits villages on a weekly basis. Patients are provided medical services and medicines free of cost. The MMUs are also used for conducting health awareness camps on Family Planning, Health & Hygiene, HIV/AIDS, etc.
- **Assam Oil Division Hospital, Digboi:** Indian Oil's 200-bed Assam Oil Division Hospital at Digboi, which was established in 1906, caters to a population of about two lakhs with catchment area extending to Arunachal Pradesh and nearby areas of the North East. This multi specialty tertiary care hospital has a 24-hours emergency centre, well equipped operation theatres, a burn unit, diagnostic services, telemedicine centre, substance abuse and treatment centre, blood bank, medical stores, morgue, etc. This hospital is recognized by the Medical Council of India for compulsory rotating internship and resident housemanship by National Board of Examinations for Diploma of National Board in Medicine and by Govt. of Assam for Radiographer and Laboratory

Technician training.

- **Swarna Jayanti Samudaik Hospital, Mathura:** Indian Oil's 50-bed Swarna Jayanti Samudaik Hospital (Village: Raunchi Bangar, Mathura, Uttar Pradesh) was established in 1999 to provide medical assistance to residents of nearby areas. This hospital also operates two mobile dispensaries to provide primary medical care in the nearby villages of Mathura Refinery. The hospital provides free treatment to the destitute and offers subsidized treatment to others.
- **Assam Oil School of Nursing, Digboi:** Assam Oil School of Nursing, Digboi was established in 1986. It offers professional nursing /midwifery courses to unemployed girls of the North East. The school offers 4 year Diploma in General Nursing and Midwifery. 20 girls are selected on merit every year through a written test. Till March 2013, 316 students have successfully completed the course and the placement record is 100%. Indian Oil won the 2nd prize under the category PRSI National Award (CSR) instituted by Public Relations Society of India (PRSI) in September, 2012 for this project.
- **Indian oil (AOD) Industrial Training Centre, Digboi:** Industrial Training Centre at Indian Oil (AOD)-Digboi, under the aegis of National Council for Vocational Training (NCVT), offers 68 seats in various Industrial Trade disciplines. It offers a 3-year fresher trade course and specialization in fitter, electrician, turner, mechanic jobs. After completion of training, students become eligible to appear in All India Trade Test conducted by NCVT. On successful completion, students are awarded National Trade Certificate in the respective trades by NCVT. Indian Oil also assists students for placement in many Public & Private sector organizations. Since inception, 1126 students have successfully completed various courses at this centre and have been absorbed in various Public & Private sector organizations.
- **Indian oil Education Scholarship Scheme:** Indian Oil Education Scholarship Scheme, started in the year 1985 with 50 scholarships, has expanded to 2600 scholarships, which are awarded on merit-cum-means basis to support talent among the deserving students belonging to families with less than 1 lakh gross annual family income. 50% scholarships are reserved for SC/ST/OBC students, 25% for girl students and 10% for Persons with Disabilities (PWD) in each category/ sub-category. While 600 scholarships are awarded for pursuing professional courses like Engineering, MBBS and MBA, 2000 scholarships are awarded to students pursuing 10+/ITI courses.
- **Scheme: Indian Oil Education Scholarship Scheme,** started in the year 1985 with 50 scholarships, has expanded to 2600 scholarships, which are awarded on merit-cum-means basis to support talent among the deserving students belonging to families with less than 1 lakh gross annual family income. 50% scholarships are reserved for SC/ST/OBC students, 25% for girl students and 10% for Persons with Disabilities (PWD) in each category/ sub-category. While 600 scholarships are awarded for pursuing professional courses like Engineering, MBBS and MBA, 2000 scholarships are awarded to students pursuing 10+/ITI courses.
- **Indian oil Sports Scholarship Scheme:** Indian Oil introduced a Sports Scholarship Scheme in the year 2006-07 for promising young sports persons representing State in team games and National ranking in others. At present, 150 scholarships are awarded in 19 games/sports fields for junior players. In addition, cost of kit items, assistance towards travel, lodging etc. is also provided.
- **MOC with Tata Institute of Social Science, Mumbai:** A Memorandum of Cooperation (MOC) was signed between Indian Oil and Tata Institute of Social Science (TISS) to conduct Baseline Survey in about 280 villages in the vicinity of 40 units/locations of Indian Oil across 21 states for Impact Assessment of various CSR projects and other CSR activities. The MOC will be valid for 24 months.
- **LPG Scheme:** In accordance with the Govt. guidelines, 20% of 2% of Net Profit of previous year (i.e. 15.82 crore) was allocated towards release of one-time grant to Below

Poverty Line (BPL) families in the rural areas for release of new LPG connection under Rajiv Gandhi Gramin LPG Vitarak Yojana.

- **Indian oil Foundation** : Indian Oil Foundation, a non - profit Trust, was formed in the year 2000 with an initial corpus of 25 crore and a recurring annual contribution of 10 crore to protect, preserve and promote national heritage monuments in collaboration with the Archaeological Survey of India (ASI) and National Culture Fund (NCF) of the Government of India. At present, work on development of tourist friendly facilities at the famous Sun temple in Konark (Odisha) and Khajuraho (MP) are in progress. The development for other monuments are in various stages of planning.

### Highlights of Section 135 of the companies act, 2013 for Corporate Social Responsibility

CSR is the process by which an organization thinks about and evolves its relationships with stakeholders for the common good, and demonstrates its commitment in this regard by adoption of appropriate business processes and strategies. Thus CSR is not charity or mere donations. CSR is a way of conducting business, by which corporate entities visibly contribute to the social good. Socially responsible companies do not limit themselves to using resources to engage in activities that increase only their profits. They use CSR to integrate economic, environmental and social objectives with the company's operations and growth.

'Net Profit' for the section 135 and these rules shall mean, net profit before tax as per books of accounts and shall not include profits arising from branches outside India. CSR spending would be computed as 2% of the average net profits made by the company during every block of three years. For the purpose of First CSR reporting the Net Profit shall mean average of the annual net profit of the preceding three financial years ending on or before 31 March 2014. Reporting will be done on an annual basis commencing from FY 2014-15. Tax treatment of CSR spend will be in accordance with the IT Act as may be notified by CBDT.

### Conclusion

Some argue that CSR is merely window-dressing, or an attempt to pre-empt the role of governments as a watchdog over powerful multinational corporations. But now a days it is mandatory for organization to retain the funds for corporate social responsibility as desired by company bill 2013.

CSR is titled to aid an organization's mission as well as a guide to what the company stands for and will uphold to its consumers. Development business ethics is one of the forms of applied ethics that examines ethical principles and moral or ethical problems that can arise in a business environment. Taking on social and moral issues is not economically feasible. Corporations should focus on earning a profit for their shareholders and leave social issues to others.

### References

- 1 *Mallen Baker.net*
- 2 *Just Good Business: The Strategic Guide to Aligning Corporate Responsibility and Brand* by Kellie A. Mc Elhanev Published by Berrett-Koehler Publishers Page-4-5
- 3 *locl.com*
- 4 *Economic times.*
- 5 *Indiatimes.com*
- 6 *Corporate Social Responsibility (Csr) - The Fundamentals* by Jeff Buckstein, CGA Page no. 2-3
- 7 *The companies Act 2013*
- 8 *The reality of corporate social responsibility, Asia monitor resources centre page 1-29 Wikipedia.com*

## Saving, Investment, and Growth : Changing Perceptions

Dr. Shobha Chaturvedi

Assistant Professor, Agrawal P.G. College, Jaipur



shodhshree@gmail.com

**T**he role of saving and investment in the process of economic growth has long been at the centre of the debate on economic policy reforms in developing countries. During the 1950s and 1960s, when import-substitution development strategies were in vogue, Keynesian monetary theory held sway with regard to the financial aspects of development policy. Capital accumulation was considered the prime mover of economic growth and financial repression—keeping interest rates low and reallocating investable funds in terms of non-market means—was the norm of financial sector policies. There was a 'neo-classical resurgence' in development thinking from about the early 1970s. As part of this paradigm shift, there was a swing of the pendulum from capital accumulation (capital fundamentalism) to policy reforms aimed at achieving efficiency in resource allocation through market oriented reforms. There was also greater emphasis on ending financial repression with a view to promoting saving and the efficiency of financial intermediation. From about the mid-1980s, the intellectual climate relating to the role of physical investment in growth has undergone significant change, as part of the emergence of the new growth theory and the mushrooming empirical growth literature.

In the 1950s and 1960s there was a broad consensus in the economics profession that the basic strategy for development should be based on import substituting industrialization, that is the promotion of industries oriented toward the domestic market by using import restrictions, or even import prohibition, to encourage the replacement of imported manufactures by domestic products. It was widely believed that that primary commodity dependent status enforced by the ex-colonial powers was the main cause of economic backwardness of developing countries, and the gap in living standards between developed and developing countries would continue to widen because of an inexorable deterioration in the terms of trade against primary commodities. Industrialization was therefore considered the key to economic development.

Reflecting the Keynesian influence that dominated economic thinking at the time, capital accumulation, with central planning playing a pivotal role, was considered the key to economic growth. National planning models of the day were commonly built around the Harrod-Domar equation, which was an

extension of the Keynesian short-run employment theory into long-run growth theory. This equation implied that growth rate could be maximized by increasing the national investment ratio and by minimizing the capital-output ratio. The debate on how an increase in domestic saving would come about and how to promote saving was primarily guided by Keynesian Monetary theory, in this theory income is the prime mover of saving. On the premise that the substitution effect and the income effect of a given change in interest rate may work in opposite directions, the interest rate effect on consumption (and hence on saving) was considered secondary and relatively unimportant, except where unusually large changes are in question. Taken together, these propositions lead to the conviction that interest rates can be repressed to an artificially low level to generate profit and promote investment as a means of breaking the vicious circle of low saving, low investment, and economic backwardness.

The postulated relationship between income growth and saving received further justification from the surplus labour (dual economy) model of Arthur Lewis (1954). The model predicted that, as the supply of labour is infinitely elastic in the typical developing economy, the expansion in the modern (capitalist) sector would lead to a rising share of profits. Under the assumption that marginal propensity to save is greater from an increase in profits than from wages, the increase in the share of profits in turn implied a long-term rise in overall saving propensities as part of the growth process. The Keynesian approach to the finance of development also stressed that a mild inflation can stimulate saving/investment through two major channels. First, by raising the nominal rate of return on investment and by reducing the cost-of-capital (real rate of interest), inflation raises the profitability of investment. Secondly, it helps investment to generate its own saving, by keeping aggregate demand buoyant and by redistributing income from wage earners with a low propensity to save to profit earners with a high propensity to save. This reasoning provided justification for inflationary deficit financing of investment as part of development planning at the time. And many leading development economists argued that

governments in developing countries should not be overly concerned with tackling inflation and instead should place more emphasis on remedying unemployment and achieving faster growth of output through deficit financing.

Given the perceived endogeneity of saving in the growth process and the emphasis on deficit financing as a desirable means of financing capital formation, development was overwhelmingly thought of in real terms. The critical role of investment in the growth process was challenged by the neo-classical (Solow-Swan growth model) which began to make inroads in the growth debate in the developed countries in the late 1950s (Solow 1956, 2000; Swan 1956). This model postulated that capital accumulation affects growth only during the transition to the steady state and the long-term growth is determined only by the rate of technological change, which is assumed to be exogenous. This view came under attack by prominent economists in the Cambridge school of thought on the ground that separation between investment and technological change was rather arbitrary as the latter is mostly embodied in new machinery and equipment. Perhaps because of these powerful criticisms the neoclassical model was never considered as a serious challenge to the 'capital supremacy' that dominated the development thinking at the time.

Many developing countries experienced rapid growth at the early stage of substituting domestic production for imports of consumer goods and other light manufactures. But, as these easy import-substitution opportunities dried up, further growth was naturally limited to the rate of growth of domestic demand, and that was generally not high in most developing countries. In almost every country, and particularly in small countries, import-substitution policies encouraged high-cost, inefficient activities that showed little productivity gains over time, partly due to their sheltered position in the domestic market.

Consequently, the original expectation of catching up with the advanced countries never materialized. Further in terms of equity considerations, such policies were often associated with regressive shifts. Most of the

newly established industries relied heavily on imported intermediate goods. To make matters worse, the protectionist policies pulled resources into high-cost import competing industries and discouraged export production. As a result, periodic foreign exchange shortages and 'stop-go macroeconomic cycles' usually emerged, with deleterious effects on output and employment.

In contrast to the dismal overall performance of the import-substitution addicted developing countries, Hong Kong—a prototype free economy and three other East Asian countries Singapore, South Korea, and Taiwan—that shifted early to more market-oriented trade, industry, and financial sector policies moved dramatically upwards on the income scale, with substantial improvement in their overall economic performance's. More importantly, rapid and sustained growth in these countries was accompanied by a remarkable equity outcome, with a more equal distribution of income and rapid reduction in poverty.

From the mid-1960s, an increasing number of studies probed these development successes, and equally the failures of the import-substituting countries. Two strands of the new literature are relevant here. First) there were studies that examined the comparative development experience, focusing primarily on the role of trade and industrial policy. The major multi-country studies in this group were directed by Little, Scitovsky and Scott (1970) at the Organisation for Economic Cooperation and Development (OECD), Balassa (1982) at the World Bank, Bhagwati (1978) and Krueger (1978) at the National Bureau of Economic Research, and Donges (1976) at the Kiel Institute of World Economics. Systematic empirical evidence of these studies created greater awareness of the economic wastefulness and irrationality of import-substitution regime's, and of the inherent growth conducive traits of export-oriented regimes. Secondly, the seminal works of Shaw (1973) and McKinnon (1973), which built on the early work of Gurley and Shaw (1955), spawned a large empirical literature that unveiled the growth retarding effects of financial repression. While the interplay between the two branches of development literature left much to be desired (Mc Kinnon 1979), both taken together provided

a strong critique of the promotion of investment at any cost' and financial repressionist approaches to economic growth that held sway in the 1950s and 1960s.

The new finance literature argued that the Keynesian policy advocacy was not consistent with the salient features of financial relations in developing countries. In the typical developing economy where there is no robust market in stocks and bonds, bank loans and self-financing constitute the major sources of investible funds. Moreover, as portfolio choices are rather limited, the saving process in the economy tends to be highly money intensive. Given the high money intensity of saving behaviour, low deposit rates of interest produce a bias in favour of current consumption and against future consumption leading to lower aggregate saving and investment levels as compared to socially optimal levels. In the light of these peculiarities of domestic financial relations, it was argued that financial repression retards economic growth through its adverse consequences for capital accumulation in the economy. Shaw's (1973) exposition of the adverse impact of low interest rates on investment, adversely influencing the level of investment, financial repression may also impede efficiency of investment through a variety of avenues investment is rooted in the debt-intermediation process. Low real deposit rates discourage financial savings and thus reduce the flow of loanable funds through the banking system to productive investment (Shaw's 'debt-intermediation view'). An additional linkage between savings and investment was suggested by McKinnon on the basis of possible complementarity of money and capital (McKinnon 1973). In an economy with a rudimentary capital market, self-financing is a major source of investment funds.

Given the fact that investment projects are lumpy, investors must accumulate funds in the form of deposits until the required principal is reached. This process of self-finance within enterprises is impaired by financial repression because low real yield on deposits increases the cost of accumulating the necessary money balances in preparation for making future investments. Thus, the more attractive the returns on deposits, the more willing investors are to engage in the accumulation process (Mc Kinnon's complementarity hypothesis').

The McKinnon-Shaw view of the danger of financial repression has, however, been strongly criticized by the neo-structuralist development economists and post-Keynesians. The neo-structuralist development economists put forward two main counter arguments. The first argument, widely known as the 'financial crowding out argument, points to the possibility of high interest rates on bank deposits generating a portfolio shift towards that asset and away from other assets in the household asset portfolio, instead of generating a net increase in total savings. While substitution is possible between bank deposits and various forms of other assets, the neo-structuralists place particular emphasis on the substitution between bank deposits and claims in the unorganized money market (UMM). The claims in the UMM, by their very nature, are not subject to reserve requirements. By contrast, reserve requirements constitute a leakage in the financial intermediation done through commercial banks. Given this difference, so the argument goes, an increase in real interest rate on bank deposits may reduce the overall degree of financial intermediation in the economy. Put simply, if saving is directed to the formal money market from the UMM as interest rates rise) the total supply of credit to the private sector may be reduced because banks are subject to reserve requirements while the UMM is not. The second argument is that even if the crowding out effect is unimportant and the availability of funds increases, the newly generated savings would not necessarily be transformed 'without hitches' into new capital formation. This is because the high interest rate policy itself would have led to a collapse of effective demand through increased saving propensities and/or cost-push contractionary effect on output and demand. As firms struggle or fail under these pressures, banks might end up with excess liquidity. To the extent that investment demand is related to the existing degree of capacity utilization, higher interest rates will reduce investment and capital accumulation.

The post-Keynesians (for example, Thirlwall 1976; Davidson 1986; Dutt 1991) also emphasize the cost-push (contractionary) effects of high interest rates which may retard (rather than promote) capital formation. In addition, they take

issue with the McKinnon—Shaw proposition on the link between financial saving, bank lending, and investment. The basic (implicit) assumption of the McKinnon—Shaw model relating to this linkage seems to be that banks are used only as savings depositories) so that the supply of loans is dependent on the deposits held by the banks. The post-Keynesians argue that this one way linkage between financial savings and bank lending becomes less relevant in the determination of investment when one recognizes the capacity of the banking system to create credit, which in many ways is the most important task of banks in the process of economic development. In a context where loans given by banks end up being deposited in banks, so they argue, it is not the amount of deposits that determines loans, but the amount of loans that determines deposits. If the banks can create credit without having to rely on initial deposits, an increase in financial saving through higher real deposit rates makes no difference to the amount of total credit given to the private sector.

Thus, as Keynes (1936) put it (since) the banks hold the key position in the transition from a lower to a higher scale of activity, the investment market can never become congested through shortage of saving.

These contending perspectives are not immune to criticism, however. As regards the financial crowding out hypothesis) the mere existence of a sizeable UMM in the typical developing economy does not necessarily imply significant crowding-out following reforms in the organized money market (OMM). The crowding-out effect would be significant only if the UMM is closely linked with the OMM so that in the households' portfolio) bank deposits are a better substitute for UMM claims than cash or other assets and if it is 'competitive and agile' (Taylor 1983). The available evidence on the structure and working of informal credit arrangements in many developing countries) however, suggest that such characterization of the UMM is a highly questionable description of reality for the typical developing economy. Moreover, it is important to note that McKinnon and Shaw were) in fact, aware of the possible contraction of UMM funds following an interest rate reform. They however, considered this to be a desirable outcome on

efficiency grounds. That is, a given quantity of saving mobilized via the formal financial sector may be more productive than the same quantity of savings mobilized through informal channels. The post-Keynesian view that the investment market can never become congested implicitly assumes a well-developed financial system where banks have the ability to lend by creating deposits on the basis of prior lending. Such a characterization is not consistent with financial systems in many developing countries. In a context where banking habits are still at a formative stage, loans extended to finance investment projects, in effect, leak out of the financial intermediation process very quickly. If financial markets are underdeveloped, and bank liquidity preference is high, banks will not necessarily lend more; and even if they do they will probably lend short-term rather than long-term. Furthermore, in the absence of near-money assets in the financial system, central banks in developing countries have a greater ability to control money supply (and thus, bank lending) than central banks in developed countries.

Despite counter arguments by economists of Keynesian persuasion, the McKinnon-Shaw case for ending financial repression, together with outward-orientation in trade and industry policy regimes soon became the new orthodoxy of economic policy reforms in developing countries. In response to this shift in conventional wisdom, an increasing number of developing countries began to unwind import-substitution cum financial repression policy regimes from the late 1970s, mostly as part of the IMF—World Bank sponsored liberalization/stabilization programmes.

### **New Growth Economics and The Renewed Emphasis on Investment**

There has been a renewed interest in issues of capital accumulation and growth since the late 1980s. By this time, a number of comparative studies of post-World War II economic performance had alluded to a widening divergence in performance among high-performing countries, casting doubt on the predictive power of the neoclassical (Solow-Swan) growth model. This set the stage for the emergence of the new growth theory, starting with the seminal work of Lucas (1988) and Romer

(1986). Inspired by the new growth theory and aided by the availability of the Summers-Heston data because the supply of credit in the UMMs is limited, money lenders in these markets operate on a small scale and usually charge high interest rates. Consequently, borrowers use these funds mostly for short-term projects and for activities where the potential competition for funding is low." For a comprehensive survey of this literature, see Madison (1994), set, here has been an outpouring of empirical work aimed at explaining the post-war growth experience.

A number of studies have taken a more disaggregated approach to examine the importance of investment in machinery and equipment, as against total investment, in the growth process. A consensus has emerged that accumulation of machinery and equipment is much more important than accumulation of total capital per se in achieving rapid growth. In addition to these cross-sectional studies, a number of studies have attempted to shed light on the new growth debate through historical case studies of the East Asian high-performing economies. The findings of these studies have by and large corroborated the findings from cross-sectional studies: efficiency of resource use (as measured by total factor productivity (TFP) growth has played a minor role compared to physical investment (and the increase in the quality and quantity of the labour force) in driving East Asian growth.

### **Conclusions**

New growth theory has been instrumental in motivating new growth empirics. But it is important to note that the empirical studies are not an attempt to directly implement the new growth theoretic models. Rather the regression specifications have been carried out in an ad hoc fashion, drawing upon the older neoclassical model extended to incorporate various policy variables, accumulation of human capital, and other related variables suggested by the new theory. Attempts bordering on fishing for statistically significant variables purely guided by data availability are also not uncommon. This has led to the criticism that the inferences drawn from the new growth empirics are fragile.

Drawing upon this empirical evidence they argue

that the neoclassical assault against the capital fundamentalism' of the 1950s and 1960s that led to favouring efficiency over capital accumulation was simply a false assignment of the causes of economic failure. The poor economic performance of many import-substitution economies, compared to the East Asian NICs, was not because of inefficiency in the use of resources nurtured by the protectionist regime, but because of other policy errors." By contrast) so the revisionists argue, governments in East Asia complemented their outward orientation with sound macroeconomic policies and a coherent investment strategy that raised the private return to capital. These governments went considerably beyond simply removing obstacles to private investment; they directly promoted capital formation through subsidies and other means of direct intervention. On these grounds, Rodrik (1999: p. 16) even came up with the dramatic inference that an increase in investment, for whatever reason, tends to spur growth'. But this interpretation amounts to an attempt to swing the pendulum too far back, which may run the risk of opening up new avenues for costly dirigisme. In a careful reading of the relevant literature, one does not find support for the view that the neoclassical resurgence from the 1970s resulted in dropping the investment ratio from the growth debate in favour of efficiency considerations. The development economists of neoclassical persuasion have continued to consider capital accumulation as a key variable in the growth process. They differ from the pioneers of development economics only in the emphasis on both resource accumulation and efficiency of resource use as key determinants of growth (Krueger 1980; Srinivasan 1999; Srinivasan and Bhagwati 1999). Put simply, what neoclassical growth economics simply postulates is that the level of investment and its efficiency are the approximate causes of growth, and that the policy regime (particularly the degree of openness to foreign trade and policy-induced distortions in the working of the price mechanism) is the primary determinant of the efficiency of investment.

The main implication of this discussion for growth empirics is that both investment rate and a variable/s to capture the nature of the policy

regime (preferably the latter interactively with the former) should be included as right-hand variables in the regression specification. Positive and statistically significant coefficients on both variables are the result postulated by the neoclassical development economists.

## References

1. Pandey, I.M., *Break even Analysis with Non-linear Revenue and Cost function*, Business Analyst, Vol. 7, No. 1, January - June, 1976
2. *The Valuation of Growth Stocks, the Investment Opportunity Approach*, Journal of Finance, 21, March, 2006
3. Mume, Gelen A., *Theory of Financial Structure*, New York, Holt, Rinehart and Winston, 2006
4. Van Horne, James C., *Financial Management and Policy*, New Delhi, Prentice Hall of India, 1999
5. Buchan, Joseph and Ernest Koenigsberg, *Scientific Inventory Management*, Prentice Hall, Inc., 2006
6. Kandamuru Seshaiyah (1999), "Human Resource Development - A Conceptual Frame", *Man aging Human Resource by Subash Garg and S. C. Jain*, (Arihant Publishers, Jaipur).
7. Mathew, E.T (1980), "University Finances in India : A Case Study of Kerala University" Sterling Publishers, New Delhi.
8. Narasimhan M.(1991), *Narasimhan Committee Report on the Financial System, 1991*, Standard Book Co., New Delhi.
9. Pandey, I.M., *Break even Analysis with Non-linear Revenue and Cost function*, Business Analyst, Vol. 7, No. 1, July - December, 1999
10. *The Valuation of Growth Stocks, the Investment Opportunity Approach*, Journal of Finance, 21, March, 2006
11. Mume, Gelen A., *Theory of Financial Structure*, New York, Holt, Rinehart and Winston, 2006
12. Van Horne, James C., *Financial Management and Policy*, New Delhi, Prentice Hall of India, 1999
13. Buchan, Joseph and Ernest Koenigsberg, *Scientific Inventory Management*, Prentice Hall, Inc., 2006

# Innovative HR Practices

Swati Chauhan

Research Scholar, IIS University, Jaipur



shodhshree@gmail.com

**H**uman Resource is the most important asset for any organization and it is the source of achieving competitive advantage. Managing human resources is very challenging as compared to managing technology or capital and for its effective management, organization requires effective HRM system. HRM system should be backed up by sound HRM practices. HRM practices refer to organizational activities directed at managing the pool of human resources and ensuring that the resources are employed towards the fulfillment of organizational goals. This paper has been designed to review the existing literature available on HRM Practices. The purpose of this paper is to develop an understanding of HRM Practices and to examine the unique HRM practices implemented by different companies

## Hypothesis

Innovative HR Practices improves performance and employee commitment in cement industry.

## HR Practices

### TQM

Total Quality Management is a concept based on Japanese Manufacturing Practices. TQM is a continuous process of reducing or eliminating errors or shortcomings in manufacturing, streamlining supply chain management, enhancing the customer satisfaction and ensuring that employees are up to date with their training. It aims to hold all parties involved in the production process as accountable for the overall quality of the final product or service.

### Job Rotations

Job rotations are another HR practice to keep employees engaged and learning new skills, where they also learn new expertise and gain valuable insight into how the organization operates. Job rotations prevent boredom and help the employee to engage in career development within the organization. When employees are engaged in different activities they feel content and satisfied which increase their loyalty and commitment.

The potential benefits of job rotations are numerous. Firstly, job rotations have the potential to increase and build leadership skills, to engage employees

deeper into the organization, and to prevent labor turnover and increase retention. For the individual employee, job rotations can provide job enrichment, career development, and increased motivation for performance and help to achieve the goals efficiently.

### Competency Mapping

All of us want to be the best among all in some way or the other in the organizations but it's not easy in fact it's very difficult to keep up. It requires lot of hard work, commitment, intellectuality. Along with this also some other features are required to excel in the job. Good managers often look for the traits which are essential to do the job effectively and work into bring positive outcomes. The psychologists in organizations have understood and converted it into the process which is known as competency mapping. This is a tool used by HR professionals to find out the right type of person for the particular job requirement.

Competency mapping is important tool of organization. Every well managed firm must have well defined roles without any role ambiguity and list of competencies required to perform each role effectively. Such list should be used for recruitment, performance management, promotions, placements and training needs identification. In performing or carrying out work, it is essential that the required job skills first be reviewed. This information not only helps to identify individuals who have the matching skills for doing the work but also the skills that will enhance the successful performance of the work. Yet often to perform well, it is not enough just to have these skills. It is also important to complement the skills with the necessary knowledge and attitudes. The intent of this article is to trace the concept of competency mapping and its effect on HR practices.

### Self-managed teams

have grown rapidly. It is introduced in the 1960s. Around 80 percent of companies in the Fortune 1000 and 81 percent of manufacturing companies use self-managed teams within their organizational structure. Companies make self-managed teams as they provide cost savings and increased productivity, if implemented effectively. However, self-managed teams must be managed properly otherwise it is not the right choice. The best-performing self-managed teams are found in

companies where the organizational culture clearly supports decision-making by employees. A self-organized, semi autonomous small group of employees whose members determine, plan, and manage their day-to-day activities and duties under reduced or no supervision. Also called self directed team or self-managed natural work team. Self-managed teams have greater ownership of the tasks they perform and the end product or service they deliver decisions made by self-managed teams are more effective because they're made by the people who know most about the job.

### e-HR

The processing and transmission of digitalized HR information is called electronic human resource management (e-HRM). e-HRM is the IT application for HR practices which ensures easy interactions between employee and employers. It



saves information regarding payroll, employee personal data, performance management, training, recruitment and strategic orientation. Information technology is changing the way HR departments manage record keeping and information sharing. It decreases the paperwork substantially and provide easy access to voluminous data. The employee can also keep track of his/her achievements without having to go through complex procedures. It uses intranet or other web technology channels. It can also be used for implementation of different HR strategies. The authorization of different HR functions can be distributed through e-HRM.

Competitive business environments have forced

the organizations to think speedily to innovate and excel for their survival. Technology advancement is one of the powerful driving forces. It has reshaped the way we communicate, live, work and also the way a business is operated. Since many years now, information technology seems to be affecting individuals and organizations communication and behaviors. The change in Information Technology is faster than any other processes in the organization. One of the major hurdles which the HR department needs to cross is the changing technological environment. The IT possibilities for HRM are endless; in principle all HR processes can be supported by IT.

e-HR is entirely a different field of technology that is widely spreading in organizations around the world. It aims at transforming the HR functions into one that is paperless, more flexible and resource efficient. With the state of IT, HRM has become more effective and capable through the use of e-HRM technologies. e-HRM has the potential to change the way traditional HRM functions are performed. For e.g. in the analysis and design of work, employees in geographically dispersed locations will be able to work together in virtual teams using videos, e-mail etc. On compensation and benefits issues, e-HRM will make it easy for employees to review salary and bonus information and seek information about bonus plans.

Benchmarking is the process of comparing one's business processes and performance metrics to industry bests or best practices from other industries. Dimensions typically measured are quality, time and cost. In the process of best practice benchmarking, management choose the best firms in their industry, or in another industry where similar processes exist, and compares the results and processes of those studied (the "targets") to one's own results and processes. In this way, they learn how well the targets achieve and, more importantly, the business processes that explain why these firms attain success.

Benchmarking is used to measure performance using a specific indicator (cost per unit of measure, productivity per unit of measure, cycle time of x per unit of measure or defects per

unit of measure) resulting in a metric of performance that is then compared to others.

### **Methodology**

A qualitative methodology was chosen to conduct the research. The study was done on a number of organizations. Convenience sampling was done. The primary data collection method used in this study is qualitative interviewing, in the form of semi-structured interviews whilst secondary data was made available in documents. A list of questions was prepared in each interview although they were not asked in any specific order, nor, indeed, were all of them asked due to some of the extensive answers given from the participants. The same opening question was used on every occasion to establish the participants' perception of performance management and from there the interview taken on a more natural, almost conversational tone. Further probing questions were asked in order that the participants could provide further detail on the subject matter.

### **Research Objectives**

The Objectives of the study are as follows

- To identify the role of HRM practices in enhancing employee performance and commitment
- To find out employees efficiency towards existing HRM practices in organization.
- To suggest ways and means for improvement of HRM practices in the organization.

### **Scope of The Study**

The scope of the study is confined to the employees of cement industry. The present study has identified various innovative HRM practices like TQM, Job Rotation, Competency mapping, Self managed team, E-HR, Work life balance, Benchmarking

### **Research Methodology**

A research design is the arrangement of conditions for collection and analysis of data. Descriptive Research is chosen in our study.

### **Sources of Data**

The data collected for this study was through Primary & Secondary sources.

### **Primary Data**

The primary data collection method used in this

study is qualitative interviewing, in the form of semi-structured interviews whilst secondary data was made available in document. A list of questions was prepared in each interview although they were not asked in any specific order, nor, indeed, were all of them asked due to some of the extensive answers given from the participants. The same opening question was used on every occasion to establish the participants perception of HRM practices and from there the interview taken on a more natural, almost conversational tone. Further probing questions were asked in order that the participants could provide further detail on the subject matter.

### Secondary Data

It consists of information that already exists that has been collected for the purpose of this study. The second hand information has been collected through the company websites, journals, magazines, & internet.

### Sample Size

A sample size of 40 employees working in various departments of the organizations were taken for the survey.

### Statistical Tools

The statistical tool used for this study is Simple percentage method.

### Data Analysis and Results

- Majority of the respondents opined that TQM is very essential for every organization but few people were skeptical about it.
- 60% people said that Job rotation is important as it remove monotony and boredom and helps us in our growth opportunity. It helps us to learn different skills and capable to survive in cut throat competitive world. It improves the performance of employees and overall helps to achieve organizational goal.
- Most of the respondent supported competency mapping as it helps to polish our skill and complement our talent. Respondents expressed their moderate opinion towards medical facilities, fringe Benefits and PF scheme existing in the organization. Respondents are having moderate satisfaction

level towards current salary and benefits provided by the organization

- 80 to 90% respondents said that they favor self managed teams.
- e-HR is a little new concept so there was mixed response about it.

### Suggestions

Hence it is observed that the organization needs to adopt innovative practices with existing HRM practices that improve employee engagement and commitment. Employee betterment increases organizational effectiveness and helps to achieve success. TQM may be used by the management for the customer satisfaction. Job Rotation to be carried out in the organization for betterment of employee performance in the job. Organization need to implement integrated approach to E-HR offers adequate opportunities for payroll, employee personal data, performance management, training, recruitment and strategic orientation. In today's environment the human resources is also important as the financial assets, technologies, etc. So organizations have to consider the human resource because these are very important for betterment of the organization.

### Conclusion

The Study has shown that the organizations which implements such practices with dedication, gains competitive advantage and remains ahead of their competitors because such practices affects other variables such as competitive advantage, job satisfaction, financial performance, employee turnover, service quality, employee commitment etc. in a positive manner and leads to overall corporate performance. While designing and implementing such practices, one important thing is to be considered and kept in mind that the .HRM practices should be analyzed from time to time and it should be updated accordingly. Line managers should be indulged in designing HRM practices and survey should be conducted among employees to know their opinion about HRM practices. This will assist the organization to take corrective actions at the right time.

### References

- 1 Agarwala, T. (2011). "Innovative human resource practices and organizational commitment: an empirical investigation " *International Journal of*

*Human Resource Management* 14(2):175-197.

- 2 Audea, T., S. Teo, et al. (2005). "HRM professionals and their perceptions of HRM and firm performance in the Philippines." *International Journal of Human Resource Management* 16(4): 532-552.
- 3 Arthur, Jeffery B. (1994), "Effects of Human Resource Systems on Manufacturing Performance and Turnover", *Academy of Management Journal*, Vol.37, pp. 670-687.
- 4 P. Subba Rao *Personnel & Human Resource Management* -- Himalaya Publishing House.
- 5 Dessler, G., *Human resource management*. New Delhi: Prentice Hall of India Private Limited, 2007.

# The Business and The Society

Smriti Dixit

Lecturer, Maharaj Vinayak Global University, Jaipur

Dr. Shalini Chaturvedi

Assistant Professor, Kanoria P.G. Mahila Mahavidyalaya, Jaipur



shodhshree@gmail.com

**T**he idea of Corporate Social Responsibility is not new. Business, through the ages, demonstrated varying degrees of responsibility to the society. Corporate Social Responsibility is the debt that corporate owe to the society and which needs to be repaid. It is more of a social obligation as to how the corporate relate to their customers, employees, suppliers, society and also towards the environment from which they use various resources for their profits. Corporate social responsibility is that 'companies integrating social and environmental concerns in their daily business operations and in their interaction with their stakeholders.

It is a concept whereby organizations consider the interests of society by taking responsibility for the impact of their activities on customers, employees, shareholders, communities and the environment in all aspects of their operations. According to The World Business Council for Sustainable Development (WBCSD), Corporate Social Responsibility is the continuing commitment by business to behave ethically and contribute to economic development while improving the quality of life of the workforce and their families as well as of the local community and society at large.

Different organizations have framed different definitions, although there is considerable common ground between them. According to Mallen Bekar CSR is about how companies manage the business processes to produce an overall positive impact on society. Companies need to think about the quality of their management, both in terms of people and processes and the nature of, and quantity of their Impact on society in the various areas.

## **Developmental History of Corporate Social Responsibility: The Progressive Era**

Adam Smith pronounced explicitly that economic self-interest is typically a more reliable path to social welfare improvement than affecting to act for the public interest. Responsibility and responsiveness emerged out of Progressivism. The Progressive reform movement emerged in the U.S. at the turn of the century. Progressivism was more "the common spirit of an age rather than an organized group or party" (Tindall, 1988, p. 941). While the modern terminology did not develop until after World War II, business leaders have since the 1920s widely adhered to some conception of responsibility and

responsiveness practices.

However, they did so as both business apologetics and business methods for defusing conflict

with potentially influential interest groups. Drucker (1999) states that managerial balancing of stakeholder interests dates to the 1920s.

### Modern Era

The modern "mixed economy" is a blend of more and less regulated industries, leaving a large role for government (Bowen, 1953). Corporate Social Responsibility had already shown considerable interest in the 1960s and 70s, spawning a broad range of scholarly contributions and a veritable industry of social auditors and consultants. Increasingly, up to the 1970s the understanding of Corporate Social Responsibility focused on companies' obligation to work for social betterment. However, since the 1970s focus shifted to social responsiveness - in other words, the capacity of organizations to respond to social pressures. With the change in the managerial approach, Corporate Social Responsibility has now developed and become more mainstream and leadership roles for initiating a wide variety of Corporate Social Responsibility activities have been crystallized and highlighted.

### Misconceptions about CSR

In the absence of a universally accepted definition for CSR, there are some Misconceptions about CSR among the stakeholders in particular and the society in general. The basic misconceptions and their general remedies are following-

- Businesses mean investing money and making money and this means that only the business houses decide the modus operandi of the CSR initiative to enhance their profits. There is a notion that since businesses invest money in society, they are the one who will be deciding upon the modus operandi of the CSR initiative. Although companies aim at profits it is not totally true to think like that. CSR driven by the mandate of an enterprise alone may not generate desired results. Stakeholders

must be involved from the onset in defining an initiative to make it successful. Corporates must not assume that they understand the needs of a community by taking them at face value; stakeholder's needs must be considered within the local context and culture.

- Financial resources alone can meet CSR needs of an enterprise. In fact, financial resources are only part of the equation. Besides financial resources, it is equally or even more important for the CSR programmes to be well defined and well accompanied by adequate human resources if they are to meet the intended objectives.
- CSR is interchangeable with corporate sponsorship, donation or other philanthropic activities.

The focus of responsible business practices in the profit sector is hitherto largely confined to community charity-based projects. While this may have been relevant for the historical context in the mid-90s when Carroll's definition<sup>13</sup> was coined, the current thinking of CSR has moved beyond philanthropy to encompass all internal and external segments of business operations, namely, employees, market environment and community.

### International standards for CSR

New initiatives, codes of conduct and management standards offer some guidance for companies on how to proceed. Malcolm McIntosh, Ruth Thomas, Deborah Leipziger, and Gill Coleman<sup>14</sup> provide a guide to the eight principal initiatives and their uses among the myriad corporate citizenship (the new synonym for CSR) initiatives around the world in recent years, eight have attained a high degree of recognition and a significant following.

These are voluntary initiatives with a global constituency that can also be defined as multisectoral, in that they can be applied in a wide range of industries. They have all evolved through social partnerships involving some elements of business, governments, labour organisations and non-government organisations. They all take a multi-stakeholder approach to corporate citizenship issues. Each initiative is described below and compared with the others. Many of the initiatives have a common starting point: either conventions of the International Labour

Organisation (ILO) and/or The UN Declaration on the Rights of the Child and or the Universal Declaration on Human Rights. Most of the 'Global Eight' reflect a northern perspective. This is balanced only partially by the inclusion of ILO conventions, which are developed in a multilateral setting.

### **The Global Eight are**

- The UN Global Compact
- ILO conventions
- The OECD Guidelines for Multinational Enterprises

### **Principles and standards**

The Global Eight may be divided into principles and standards. Principles are a set of overarching values that underpin behaviour, and so by their very nature are non-specific in behavioural terms. Standards, on the other hand, are specific and advocate a set of benchmarks to be attained. There are several different types: process, performance, certification, and foundation. It is possible for standards to have several of these characteristics:

- Principles (Global Compact and Global Sullivan Principles)
- Standards (GRI, OECD Guidelines, SA8000, AA1000S, ILO Conventions)
- Foundation (ILO Conventions, AA1000S)
- Process (SA8000, AA1000S, ISO 14000S)
- Performance (SA8000, OECD Guidelines, ILO Conventions)
- Certification (SA8000 and ISO 14000 Series)

### **ISO 14000 Series**

The International Standards Organisation has developed an extensive range of standards. Among those that are directly related to corporate citizenship are those that refer to quality, health and safety and the environment through the ISO 9000 and ISO 14000 series. These standards are used at several hundred thousand facilities around the world. Of all of the Global Eight initiatives, ISO standards have

attained the greatest dissemination and adoption by companies.

### **Global Reporting Initiative (GRI)**

The Global Reporting Initiative (GRI) was conceived in 1997 by the Boston-based Coalition on Environmentally Responsible Economies (CERES) in collaboration with the Tell us Institute. In common with other corporate citizenship initiatives, this development has taken place through a new social partnership between non-state actors that include 20 businesses, NGOs and accountancy organisations. The GRI has been adopted by the UN Environment Programme and is becoming an independent organisation. The GRI is built on a simple premise. The Guidelines provide assistance on the format and content of reports, as well as information on how to normalise and verify data. In addition, work is being undertaken by accountants to adapt traditional principles to this new form of accounting. The Global Reporting Initiative (GRI) has the ambitious mission "to elevate sustainability reporting to a level equivalent to financial reporting through the development of a generally accepted reporting framework." The GRI Guidelines address economic, environmental and social reporting. The GRI is valuable as it serves as an "internal tool for evaluating the consistency between corporate sustainability policy and strategy on the one hand, and actual performance on the other."

### **Social Accountability 8000 (SA8000)**

In the year 2000, a universal code of practice<sup>16</sup> for labour conditions in manufacturing industry was formulated under Social Accountability International (SAI) whose purpose was to develop voluntary standards for corporate social responsibility covering employees' working conditions to give a standard for socially responsible employment practices. Accordingly, the SA 8000 code of practice has been developed with nine key requirement areas, i.e. (i) Child Labour, (ii) Forced Labour (iii) health and Safety (iv) Freedom of association (v) Discrimination (vi) Disciplinary practices (vii) Working hours (viii) Compensation and (ix) Management. All these have become statutes for the Indian Industries.

### **Account Ability 1000S (AA1000)**

AA1000S was launched in 1999 by the Institute of

Social and Ethical Accountability (Account Ability). The Institute is a not-for-profit professional membership organisation, built through a coalition of businesses, non-governmental organisations (NGOs), business schools and service providers. The focus of AA1000S and its forthcoming revision is on the social dimensions of an organisation's accountability. The standard comprises both the principles of a quality standard and a set of process standards that cover five stages:

- Planning
- Accounting
- Auditing and reporting
- Embedding
- Stakeholder engagement

### **The Global Compact17**

The Global Compact's operational phase was launched at UN Headquarters in New York on July 26, 2000. An international initiative – the Global Compact – that would bring companies together with UN agencies, labour and civil society to support nine principles in areas of human rights, labour and the environment. Thus Global Compact was a voluntary corporate citizenship initiative with two objectives: Mainstream the nine principles in business activities around the world; and Catalyse actions in support of UN goals. The nine principles are:

#### **Human Rights**

- Principle 1: Businesses should support and respect the protection of internationally proclaimed human rights within their sphere of influence; and
- Principle 2: make sure that they are not complicit in human rights abuses.

#### **Labour Standards**

- Principles 3: Businesses should uphold the freedom of association and the effective recognition of the rights to collective bargaining;
- Principle 4: the elimination of all forms of forced and compulsory labour;
- Principle 5: the effective abolition of child

labour; and

- Principle 6: eliminate discrimination in respect of employment and occupation.

#### **Environment**

- Principle 7: Businesses should support a precautionary approach to environmental challenges;
- Principle 8: undertake initiatives to promote greater environmental responsibility, and
- Principle 9: encourage the development and diffusion of environmentally friendly technologies.

#### **References**

1. Archie B. Carroll (1991), "The pyramid of corporate social responsibility: toward the moral management of organizational stakeholders", *Business horizons*
2. Malcolm McIntosh, et al. (2003), *Living Corporate Citizenship : Strategic Routes to Socially Responsible Business* Lon, [www.encyclopedia.com/doc/1G1119071796.html](http://www.encyclopedia.com/doc/1G1119071796.html)
3. <http://www.ethicalcorp.com/content.asp?ContentID=354>
4. *ISO 14000 Series*
5. *The Global Reporting Initiative*
6. *The Global Sullivan Principles*
8. *Social Accountability 8000*

# Heritage Tourism: A Way to Preserve History

Navdeep Rathore

Research Scholar, University of Rajasthan, Jaipur



shodhshree@gmail.com

**H**eritage tourism” a term we have been hearing a lot is the most sustainable form of tourism. The way this tourism has helped the nations in their economy and at the same time worked to preserve the history no other form of tourism has. Had it not been for the heritage tourism today we would have lost our rich background but this tourism not only saved it, it revived it as well.

**Objective** -The objective of this paper is to explain the meaning and importance of heritage, and to explain how heritage tourism is helping in restoring the history of our nation and the state. This paper is amid at explaining how each and every part of our age old past is an attraction for the world and an asset to us.

## Heritage Tourism: A Way to Preserve History

When we say Heritage it has a long list of things which are tangible as well as intangible, old building Monuments, forts, palaces, costumes, customs and tradition, music, song and dance, festivals, art and craft, cuisine and all that which are there from ages. It is a full range of our inherited traditions, objects, and culture. Most important, it is the range of contemporary activities, meanings and behaviours that we draw from them. It is both tangible and intangible, in the sense that ideas and memories of songs, recipes, language, dances, and many other elements of who we are and how we identify ourselves are as important as historical buildings and archaeological sites.

Objects of heritage are the things we pay attention to because they're still meaningful to us, not always because they tell great stories about the past but because we use them to tell stories about ourselves, they tell us who we are as a nation, society, group and individual. Practices of heritage are customs and habits which, although intangible, also inform who we are as groups, and help to create our shared social memory. What we define as 'heritage' is constantly changing in the light of the present as we look to the past to imagine our future.

Heritage tourism is a tour of all such places. According to National Trust for Historic Preservation in the United States heritage tourism is travelling to experience the places and activities that authentically represent the stories and people of the past, and cultural heritage tourism is defined as “travelling to experience the places and activities that authentically represent the stories

and people of the past and present.

Cultural heritage is the legacy of physical artefacts and intangible attributes of a group or society that are inherited from past generations, maintained in the present and bestowed for the benefit of future generations.

Our country is known all over the world for its rich culture and heritage and Rajasthan enjoys the maximum share of it. The land of warriors has still kept its heritage intact with the help of its people. Rajasthan has adapted to the fast developing modern world in a very sustainable manner by preserving its cultural heritage. The people of Rajasthan are still rooted to their age old traditions and customs, they have preserved their past very elegantly without being reluctant to the development and changing lifestyle.

Here is an insight in to the heritage of Rajasthan which has been the centre of attraction for the world.

### **Heritage of Rajasthan Built Heritage**

Rajasthan with its rich historical, cultural and environmental heritage, coupled with colourful fairs and festivals, friendly people and sweet and rhythmic music has become a favourite destination for tourists from all over the world. Every year Rajasthan hosts thousands of tourist be it domestic or international, and every year this figure is increasing. According to the report of department of tourism in the year 2011, 28489297 domestic and international tourists came to Rajasthan and in the year 2012, 30063201 tourists came.

### **Forts and palaces**

Rajasthan "The land of Rajputs", "The Land of Warriors" has been known for its beautiful forts and palaces throughout the world. Rajasthan the land of Royals has ample number of forts and palaces which stand grand telling its proud history. On the basis of the survey 52% Tour Operator and 60% Guide opted for forts and palaces as the prime tourist attraction on high scale. Some of the important historical places and monuments are: Hawa Mahal, Jantar Mantar, Amer Fort, Umed Bhawan Palace, Mehrangadh

Fort, Citypalace Jaipur, Chittorgadh Fort, Vijay Sthamb, Jaisalmer Fort, Havelies Of Jaisalmer, etc.

If we look at the tourist visits only Amer fort was visited by 1379872 tourists in the year 2012-2013 and 1495885 tourists in the year 2011-2012. This shows how and with what intensity our forts and palaces have been attracting tourist from all around.

This is one of the reasons why Heritage Hotels have been a grand success in Rajasthan. As said earlier every rupee spent by a tourist in the State, changes hands thirteen times and every hotel room generate direct employment to three persons and indirectly to eight persons. This statement can be seen in real sense in Rajasthan. Rajasthan has developed tourism infrastructure with over 6000 hotel room with in more than 150 hotels. 50% of all heritage hotel rooms are in Rajasthan. At present there are 39 recognized Heritage hotels in Rajasthan providing 1069 rooms for tourists and 60 hotels are operating which are yet to be recognized by the Department of Tourism.

The concept of heritage tourism has not only helped in reviving these old building by turning them in to heritage properties but has also helped the economy of the state in a big way by generating employment. The village safaris through heritage hotels have helped the village men and women both earn a part of their livelihood by sitting in comfort of their home. The local art and craft has also got a new life.

### **Monuments and Historical Places**

Rajasthan is known for its rich history and beautiful architecture. The monuments and Historical places which has been witness to the glorious history of Rajasthan have always attracted tourist from all around. The huge monuments and age old historical places talk about valour and bravery of kings, each place is marked by stories of bravery, love, sacrifice and high moral conduct. There are folk songs based on these stories sung even today with same zeal and enthusiasm. Haldi ghati, Victory Tower, Kirti Stambh are some of the most visited places.

### **Temples**

The beautifully carved temples of Rajasthan are known for their architecture and sculptures. People of foreign origin and Indians come from faraway places to visit them; Dilwara Temple, Ranakpur Temple, Osian Temple, Meera Temple, Eklingji

Temple, Govind Devji Temple etc are some of the famous temples visited by thousands of tourists every year.

The weapon, costumes, articles used during those days are displayed in the museums and attracts people from all over. These places are the prime attraction of tourist all over the world. The inclusion of Jantar mantar and recently added Chittorgarh Fort, Kumbhalgarh Fort, Ranthambore Fort, Jaisalmer Fort, Amber Fort and Gagron Fort (Jhalawar) in UNISCO list of world heritage site shows the importance and excellence of our built heritage. This will also increase the tourist flow in Rajasthan.

### **Cultural Heritage**

**Costumes:**“Rangilo Rajasthan” or the colourful Rajasthan is known for its colourful costumes all around the world. The barren land of Rajasthan gave birth to the colourful Rajasthan we know. To compensate the nature the people of Rajasthan adopted bright colours, the colours gave feeling of joy, excitement and merriment. This was the best alternative for a vibrant life. These colours would give them hope for a better tomorrow, strength to fight today and joy to celebrate the moment. It helped them fight the hard life of desert.

The women folk wore different attire as per their cast so does the men. The ruling class ladies wore lehnga (long skirt), kurti (waist coat), kanchali (blouse) and odhani (shawl), the ladies of other cast also followed more or less the same pattern but they would either wear a waist coat or a blouse as per their tradition. The lehanga and odhani was worn by all but again the pattern would differ as per their cast. The male folk wore a turban the colour and pattern of which differ, to cover their body they wore different types of shirts the design of which were also based on their cast and so were the pattern of their dhoties and pants. This variedness of our costumes has been an attraction for tourists because of which in spite of development and modern lifestyle we have been able to preserve them from extinguishing

### **Jewellery**

The jewellery forms an important part of people in Rajasthan since ages; there is an ample of

variety in the ornaments worn by them. They have items of jewellery right from head to toe and have variety in all of them. These items are in gold, silver, lakh and animal bones. Just like the costumes the type and metal of these items differ according to cast. The use of gold to decorate feet was forbidden for all the other cast except the ruling cast. The people of higher cast used gold and the other casts used jewellery of other metals, and bone and flower jewellery was used by trebles, still this difference can be seen very clearly.

To decorate the head there are items like, rakhari, bore, sheshphol, meri , for neck, haar, necklace, temaniya, galpatta, etc, for hand bangles, hathphol, rings, bangles, bajuband, etc are there and in the same way there are ornaments to decorate feet, waist, ear, nose etc. The beauty and variety in the Rajasthani jewellery has items for every class and group which cannot be found anywhere else and heritage tourism has opened a new market for them which have helped in not only preserving the art but also in its innovation for use in present time.

### **Fairs and festivals**

The Colourful Culture of Rajasthan is also showcased in its fairs and festivals which are famous worldwide. All over Rajasthan different areas are famous for the celebration of their own fairs and festivals from ages, the Marwar festival of jodhpur, desert festival of Jaisalmer, gangaur festival of Jaipur, cattle fair of Nagaur, Pushkar fair, Elephant festival of Jaipur, camel festival of Bikaner, Mewar festival of Udaipur, etc have marked Rajasthan on the world map for its merriment and lively culture. Folk dances, folk music, puppet shows, buying and selling of cattle, cock fights, bull fights, camel races, colourful clothes and all the other paraphernalia associated with rural festivals can be seen at the massive annual gatherings that mark these fairs and festivals in different parts of Rajasthan.

Fairs and festivals of Rajasthan have been attracting tourist a lot as such events not only showcase the object of fair but also shows the culture and tradition in its original form with the help of stalls, songs, dances etc. In the year 2007-08 25.19Lacs, 2008-09 19.30Lacs and in the year 2009-10 6.17 Lacs of rupees were earned only through Pushkar fair.

## Songs and dances

Highly cultivated classical music and dance with its own distinct style is part of the cultural tradition of Rajasthan. The music is uncomplicated and songs depict day-to-day relationships and chores, more often focused around fetching water from wells or ponds or newlywed remembering her parental home or songs related to ornaments and dressing up of young brides waiting for their husbands.

Folk songs are commonly ballads which relate heroic deeds and love stories; and religious or devotional songs known as bhajans and banis (often accompanied by musical instruments like dholak, sitar, sarangi etc.) are also sung. The songs and dances of Rajasthan have been recognized internationally. The Kalbelia Dance, Chari Dance, Bhawai, Ghoomar, Mand, Gair, Kathputli, Kachhi Ghodi, Bhavai, Terah Taali, Kathak, etc are some well known songs and dances of Rajasthan which not only brought fame to the rajasthani culture but also attracted a lot of domestic and international tourist thus helping in the growth of state GDP.

## Natural Heritage

### Wildlife, Parks and Sanctuaries

Rajasthan has varied topography, it has desert and mountains too, water filled valleys as well as barren land. A part from its geographical beauty and variety its animal life is also rich. Rajasthan is a land of varied landscape, ranging from the semi green forests of Mount Abu to dry grasslands of the desert, and from the dry deciduous thorn forest of Aravali to wetlands of Bharatpur. Each of these areas is home to variety of rare as well as endangered animal and bird species. The sanctuaries and the wildlife parks here attract the migratory birds and become their temporary home. Migratory birds like the common crane, ducks, coots, pelicans and the rare Siberian cranes, imperial sand grouse, falcons, buzzards flocks to this state during the winter season. Rajasthan has a variety of flora and fauna. Rajasthan is the haven of the tigers and many endangered species. There are Dears, Bears, Leopard, Desert Fox, Endangered Caracal, Great Indian Bustard, Monitor Lizard, Porcupine Etc and Large Number of Migratory Birds like Common Crane, Imperial Sand Grouse, Falcons, Buzzards, Ducks, Pelicans, and Siberian Crane

etc.

It has some known centuries and parks which attracts tourist from different parts. Desert national park around Jaisalmer, Keoladeo Ghana National Park, Ranthambore National Park, Srisika National Park, Bhainsrorgarh Sanctuary, Darrah Sanctuary nr Mukangarh, Jaisamand Sanctuary, Kumbhalgarh Sanctuary, Mt. Abu Sanctuary, Chambal Sanctuary, Sitamata Sanctuary nr Udaipur and Talchappar Sanctuary in shekhawati region are some of the natural heritage of Rajasthan.

## Adventure and Sports

With the never ending dunes and dessert, The terrain in Rajasthan is tailor-made for most adventure sports, with its Aravalli and Vindhayan hills, the open desert tracts, the vast lakes and rivers, the wildlife parks, and little villages abandoned by the march of civilization is a perfect destination for even sports lovers. The state has also made its mark in adventure sports activity due to its varied landscape by popularizing adventure activities like Camel Safari, Horse Safari, Elephant Safari, Desert Safari, Jeep Safari, Para Sailing, Hang Gliding, Horse Polo, Camel Polo, Elephant Polo, Bicycle Safari, Vintage Car Rally, Kite Flying, Trekking, Ballooning etc. All these activities have made the tourist experience more memorable and enjoyable due to which more and more tourist are getting attracted towards Rajasthan.

## Conclusion

The list of heritage of Rajasthan doesn't finish over here, there are dramas, paintings, handicraft work, textile items, puppets, wooden art, mirror work, tie and die and many more which we have successfully preserved with the help of heritage tourism. In absence of heritage tourism today with the passage of time and development slowly and slowly we would have lost our historical treasure which is a living example of our proud past. Heritage tourism has come as a boon to Rajasthan, it has worked to benefit the state in an all round way by not only preserving the heritage but by also providing the employment and increasing the state GDP.

## References

- 1 Chawla, Romila, *Tourism as an Industry* (New Delhi: Arise Publisher and Distributers, 2006)
- 2 Chawla, Romila, *Tourism The Cultural Heritage* (New Delhi: Arise Publisher and Distributers, 2006)

- 3 *Agarwal, S. B., Tourism For Sustainable Economic Development (New Delhi: Reference Press, 2003)*
- 4 *Rao, Balkrishna, Rajasthan main Bhraman (Hindi edition) (Jaipur: Vangmaya Prakashan, 2005)*
- 5 *Agarwal, S. B., Tourism For Sustainable Economic Development (New Delhi: Reference Press, 2003)*
- 6 *Bhatia, A. K., Tourism Development: Principles & Practices (New Delhi: Sterling Publishers Pvt. Ltd., 2002)*
- 7 *Pragati prativaden (Department of Tourism Rajasthan)*

# Financial Institutions of India

Dr. Chitra Rathore

Associate Professor, S.S. Jain Subodh P.G. College, Jaipur



shodhshree@gmail.com

Since independence, a number of financial institutions, some operating on an all-India basis and others functioning within their respective states, have been established. They have been reasonably responsive to the growing and varied long-term capital requirements of industry. They have provided the bulk of long-term finance to the industry and encouraged competent new entrepreneurs—in addition, they have laid emphasis on developing backward regions and have been engaged in promotional activities.

This is concerned with the various aspects of financial institutions and their functioning in India. It is divided into seven sections as follows: in India. It is divided into various sections as follows:

## (A) Institutional Structure-

**All-India Institutions:** Various all-India institutions are briefly profiled below-

**Industrial Finance Corporation of India, New Delhi** - The Industrial Finance Corporation of India (IFCI, hereafter) the first all-India term-lending institution, was set up in 1948 with the primary objective of providing medium and long-term credit to industry. The sources of fund for IFCI are paid-up capital, reserves, repayment of loans, market borrowings, and loans from the Government of India, advances from the Industrial Development Bank of India, and foreign line; credit from KfW (West Germany), BPCE (France), ODA (UK), and others.

**Industrial Credit and Investment Corporation of India, Mumbai** - The Industrial Credit and Investment corporation of India (ICICI) was founded in 1955. It is owned and financed mainly by the private sector. It provides assistance to units in the private sector, mainly in the form of rupee and foreign exchange loans. The resources of ICICI consist of paid-up capital, reserves, repayments of loans) borrowings from the Government of India, advances from the Industrial Development Bank of India, market borrowings, and foreign lines of credit from the World Bank, USAID, KfW, UK Government, and others. ICICI has made important contributions to capital market and industrial development by setting up institutions like CRISIL, SCICI, TDICI, and ICICI Bank.

**Industrial Development Bank of India, Mumbai** - The Industrial Development Bank of India was established in 1964 as a subsidiary of the Reserve Bank of India. It is the apex term lending financial institution in India. It has been designated as the principal financial institution of the country for coordinating, in conformity with national priorities, the working of institutions engaged in financing, promoting, and developing industry. IDBI finances industry directly and also provides the principal support to State Financial Corporations and Small Industrial Development Corporations and commercial banks in their financing of industries, through refinancing and bill rediscounting facilities. The resources of IDBI consist of paid-up capital, reserve, repayment of loans, market borrowings both within and outside the country, temporary credit from the Reserve Bank of India, foreign lines of credit from the World Bank, ADB, and others. IDBI up a subsidiary called the Small Industries Development Bank of India (SIDBI) to serve as the chief refinancing institution for the small sector.

**Insurance Companies** - There are two insurance companies in India-

**(a) Life Insurance Corporation** - The Life Insurance Corporation (LIC, hereafter) came into being in 1956 after the nationalization and merger of about 250 independent life insurance societies. It is headquartered in Mumbai. The primary activity of LIC is to carry on life insurance business, has gradually developed into an important all-India financial institution, which provides substantial support to industry. It works in close liaison with the other all-India financial institutions.

**(b) General Insurance Corporation** - The General Insurance Corporation (GIC, hereafter) was founded when the management of general insurance business in India was taken over by the government in 1971 and subsequently nationalized in 1973. It is headquartered in Mumbai. GIC is essentially a holding company that has four fully-owned subsidiary companies in its fold. In addition investing in "socially-oriented" sectors, where the bulk of its investible resources are required to invested, GIC and its subsidiaries provide substantial assistance to industrial projects.

**Unit Trust of India** - The Unit Trust of India was set up in 1964 with the principle objective of mobilizing public savings and channeling them into productive corporate investment. UTI raises its resources primarily through the sale of small denomination units. UTI subscribes industrial securities and also purchases outstanding securities in the secondary market. In its investment activity, UTI is naturally governed by considerations of yield and security as it has an obligation earn a reasonable rate of return for its unit holders in its various schemes, without exposing the; to undue risks.

**(B) Financial assistance**- direct and indirect:

**Lease Finance** - A lease represents a contractual arrangement whereby the lesser (the financial institution) grants the lessee the right to use an asset in return for periodic lease payments.

**Hire Purchase Finance**- Under a hire purchase arrangement the hiree (the financial institution) gives assets on hire to a user (hirer) who pays periodic hire purchase installments. On payment of the final hire purchase installment, the ownership of the assets is transferred from the hire to the hirer.

**Bill Discounting** - Financial institutions discount bills arising from the purchase of capital goods in some extent.

**Short Term Credit** -Asset-based credits of a relatively shorter tenor are now being provided In. financial institutions.

**Seed Capital** - Financial institutions provide seed capital to supplement the resources of promoters of small and medium scale industrial units. Support in this form however, is being phased out.

**Indirect Financial Assistance** - Besides providing direct financial assistance, financial institutions extend help to Industrial units in obtaining finance/credit through the following ways:

**Deferred Payment Guarantee** - Financial institutions issue guarantee on behalf of the buyers of industrial machinery to the supplier offering the facility of deferred payments. Should there be a default by the buyer in the payment of deferred installments, financial institutions make the payment and subsequently recover the amount from assisted unit. A nominal

commission is chased from providing such guarantee.

**Guarantee for Foreign Currency Loans** - Financial institutions provide guarantee for foreign currency loans obtained by industrial concerns from institutions and banks abroad. A nominal commission is charged to the assisted unit for such guarantee.

**Underwriting** - As part of the overall financial package, financial institutions generally participate in underwriting equity issues of assisted units. This helps the assisted units in raising funds from the capital market.

**(C) Financing Policies and Norms:** The key financial policies and norms followed by the institutions are as follows-

**Project Size and Institutional Participation:** Projects costing up to Rs. 100 million are financed by state level financial institutions along with commercial banks under the IDBI refinancing scheme. For any single project, the following term loan limits apply under the IDBI refinancing scheme: Rs. 15 million by State Financial Corporations, Rs. 25 million by State Industrial Development Corporations. Projects costing more than Rs. 100 million are considered for financing by the all-India financial institutions.

**Promoters' Contribution Norm:** Earlier, the contribution required from the promoters used to be between 12.5% and 22.5% of the project cost depending on factors like the background of the promoter, the location of the project, and so on. Presently, however, the minimum contribution from the promoters is 25 %, irrespective of anything. Only for small scale industries, SIDBI has stipulated a minimum promoters' contribution ranging from 17.5% to 22.5 % depending on the location of the project.

**Over-run Financing:** When an application for over-run financing is received, the appraising financial institution tries to segregate between controllable over-run (caused by factors deemed controllable by the management) and uncontrollable over-run (caused by factors outside the control of management). While the financial institutions take a lenient view with respect to uncontrollable cost over-run (which

results primarily from changes in governmental policies and exchange fluctuations), they are disinclined support controllable cost over-run. For uncontrollable cost over-run the norms of financing (the debt-equity norm and the promoters' contribution norm) as applicable to the original project cost are followed. Controllable cost over-run, however, is expected to be financed by promoters and by way of public subscription.

**(D) Special Schemes-**Several special schemes have been designed to serve the varied needs of industry. The important ones are discussed below:

**Bill Rediscounting Scheme:** IDBI has a bill rediscounting scheme to enable industrial units to buy capital equipment on a deferred payment basis. The scheme works as follows:

- The prospective buyer suggests to the manufacturer/seller of capital equipment that instead of making full payment in cash he would like to avail of the facility of deferred payments under the bill rediscounting scheme of IDBI.
- The manufacturer/seller, if he agrees to the proposal of the buyer, divides the cost of equipment, excluding advance payment, into half-yearly or yearly installments and prepares a separate bill/promissory note for each installment plus interest in respect of deferred payments. (The period of deferred payment is normally less than 5 years.)
- The bills/promissory notes are accepted /guaranteed by, or on behalf of, the buyer on delivery of the equipment.
- The manufacturer/seller discounts the bills/promissory notes with his banker, realising the cost of his machinery. (The discount payable by the seller/manufacturer to his banker is included in the amount of bills in the form of interest.)
- The banker of the manufacturer/seller rediscounts the bills with IDBI, under the bill rediscounting scheme, thus obtaining the amount paid to the manufacturer/seller.
- The banker of the manufacturer/seller buys back the bill from IDBI three days (working

days) in advance of their due date and gets payments from the acceptor/guarantor of the bills on maturity due dates.

**Supplier's Line of Credit**-The salient features of the supplier's line of credit are:

- The scheme provides assistance to indigenous machinery manufacturers for sale of equipments (along with spares) to actual users for balancing) replacement, and modernization purposes only.
- A non-revolving line of credit is extended to the seller normally with a validity period of two years from the date of sanction. Each time the seller wants to avail of the line of credit, he has to get ICICI's prior approval.
- Advances are made against usance bills duly accepted or guaranteed by the purchaser's bank.
- The amount of deferred credit is usually between 80 and 90 per cent of the value of the order—the balance is payable by the buyer as advance payment. The period of deferred credit is five to seven years and the amount is repayable in ten to fourteen equal half-yearly installments.
- The interest rate on the supplier's line of credit facility is currently 18 per cent per annum for a five-year facility and 18.5 per cent per annum for a seven-year facility.

#### **(E) Promotional Activities**

Interested in fostering entrepreneurship, financial institutions have traditionally engaged in a variety of promotional activities like:

- Conducting surveys (along with other financial institutions) of less developed states and union territories to assess industrial potential and identify projects that can be quickly implemented.
- Preparing project profiles to guide entrepreneurs.
- Commissioning feasibility studies on projects identified in the industrial potential surveys.
- Setting up consultancy organizations at state-level, jointly with other institutions, to provide techno-economic consultancy services. In recent years, however,

institutions have been concentrating more on business development. Profit objective has overtaken the concern for promotion or development of entrepreneurship in response to greater competition and application of prudential norms.

#### **(F) Term Loan Procedure**

The procedure associated with a term loan involves the following principal steps:

**Submission of Loan Application** - The borrower submits an application form which seeks comprehensive information about the project. The application form covers the following aspects:

- Promoters' background
- Particulars of the industrial concern
- Particulars of the project (capacity, process, technical arrangements, management, location, land and buildings, plant and machinery, raw materials, effluents, labour, housing, and schedule of implementation)
- Cost of the project
- Means of financing
- Marketing and selling arrangements
- Pro Fitability and cash flow
- Economic considerations
- Government consents

**Initial Processing of Loan Application** - When the application is received, an officer of the financial institution reviews it to ascertain whether it is complete for processing. If it is incomplete the borrower is asked to provide the required additional information. When the application is considered complete, the financial institution prepares a 'Flash Report' which is essentially a summarization of the loan application. On the basis of the 'Flash Report', it is decided whether the project justifies a detailed appraisal or not.

**Appraisal of the Proposed Project** - The detailed appraisal of the project covers the marketing, technical, financial, managerial, and economic aspects. The appraisal memorandum is normally prepared within two months after site inspection. Based on that a decision is taken

whether the project will be accepted or not.

**Issue of the Letter of Sanction** - If the project is accepted, a financial letter of sanction is issued to the borrower. This communicates to the borrower the assistance sanctioned and the terms and conditions relating thereto.

**Acceptance of the Terms and Conditions by the Borrowing Unit** - On receiving the letter of sanction from the financial institution, the borrowing unit convenes its board meeting at which the terms and conditions associated with the letter of sanction are accepted and an appropriate resolution is passed to that effect. The acceptance of the terms and conditions has to be conveyed to the financial institution within a stipulated period.

**Execution of Loan Agreement** - The financial institution, after receiving the letter of acceptance from the borrower, sends the draft of the agreement to the borrower to be executed by authorised persons and properly stamped as per the Indian Stamp Act, 1899. The agreement, properly executed and stamped, along with other documents as required by the financial institution must be returned to it. Once the financial institution also signs the agreement, it becomes effective.

**Disbursement of Loans** - Periodically, the borrower is required to submit information on the physical progress of the projects, financial status of the project, arrangements made for financing the project, contribution made by the promoters, projected funds flow statement, compliance with various statutory requirements, and fulfillment of the pre-disbursement conditions. Based on the information provided by the borrower, the financial institution will determine the amount of term loan to be disbursed from time to time. Before the entire term loan is disbursed, the borrower must fully comply with all the terms and conditions of the loan agreement.

### **(G) Project Appraisal**

Financial institutions appraise a project from the marketing, technical, financial, economic, and managerial angles. The principal issues considered and the criteria employed in such appraisal are discussed below.

### **Market Appraisal**

The importance of the potential market and the need to develop a suitable marketing strategy cannot be over-emphasized. Hence efforts are made to:

- Examine the reasonableness of the demand projections by utilising the findings of available surveys, industry association projections, Planning Commission/DGTD projections, and independent market surveys (which may sometimes be commissioned).
- Assess the adequacy of the marketing infrastructure in terms of promotional effort, distribution network, transport facilities' stock levels, etc.
- Judge the knowledge, experience, and competence of the key marketing personnel.

### **Technical Appraisal**

The technical review done by the financial institutions focuses mainly on the following aspects:

- Product mix
- Capacity
- Process of manufacture
- Engineering know-how and technical collaboration
- Raw materials and consumables
- Location and site
- Building
- Plant and equipments
- Manpower requirements
- Break-even point

The technical review is done by qualified and experienced personnel available in the institutions and/or outside experts (particularly where large and technologically sophisticated projects are involved).

**Financial Appraisal** - The financial appraisal seeks to assess the following; The financial appraisal seeks to assess the following-

**Reasonableness of the Estimate of Capital Cost** - While assessing the capital cost estimates, efforts are made to ensure that (a) padding or

under-estimation of costs is avoided, (b) specification of machinery is proper, (c) proper quotations are obtained from potential suppliers, (d) contingencies are provided, and (e) inflation factors are considered. Reasonableness of the Estimate of Working Results The estimate of working results is sought to be based on realistic market demand forecast, price computations for inputs and outputs that are based on current quotations and inflationary factors ,an appropriate time schedule for be based on a realistic market demand forecast, price computations for inputs and out that are based on current quotations and inflationary factors, and an appropriate time schedule capacity utilization, and cost projections that distinguish between fixed and variable cost.. The general norms for financial desirability are as follow.

- Internal rate of return : 15 %
- Return on investment : 20-25 % after tax
- Debt-service coverage ratio : 1.5 to 2.0
- Debt-service coverage ratio : 1.5 to 2.0

In applying these norms, however, a certain degree of flexibility is shown on the basis of the nature of the project, the risks inherent in the project, and the status of the promoter. Appropriateness of the Financing Pattern The institutions consider the following in assessing it financial pattern:

- A general debt-equity ratio norm of 1.5 : 1
- Stock exchange listing requirements
- The means of the promoter and his capacity to contribute a reasonable share of the project finance.

**Economic Appraisal**-The economic review looks at the project from the larger social point of view. The methodology adopted by the financial institutions for the purpose of economic evaluation (also referred to social cost benefit analysis) is labeled as 'Partial Little Mirriees' approach. In addition to the calcularic of the economic rate of return as per this approach.

**Resourcefulness** -This is judged in terms of the prior experience of the promoters, the progress achieved in organizing various aspects of the project, and the skill with which the project is presented.

**Commitment** - This is gauged by the resources (financial, managerial, material, and other) applied to the project and the zeal with which the objectives of the project, short-term as well as long-term, are pursued. Managerial review also involves an assessment of the caliber of the key technical and managerial personnel working on the projects, the schedule for training them, and the remuneration structure for rewarding and motivating them.

### Conclusion

Since independence, a number of financial institutions, extend help to industrial units in obtaining finance/credit through the following ways: deferred payment guarantee, guarantee for foreign currency loans, and underwriting. Projects costing up to Rs. 100 million are financed by state level financial institutions along with commercial banks under IDBI refinancing scheme. Projects costing more than Rs. 100 million are considered for financing by the all-India financial institutions. This is relaxed in certain circumstances. The minimum contribution to be provided by promoters in general is 25 per cent of the project cost. Several special schemes have been designed to serve the varied needs of industry. The important ones are: bill rediscounting scheme, supplier's line of credit, and equipment scheme. Financial institutions, as developmental agencies, have engaged in a variety of promotional activities like conducting survey, preparing project profiles, training entrepreneurs, offering merchant banking services, and effecting coordination among various institutions and agencies.

### References

1. *Bleaney, M. (1996), 'Macroeconomic Instability, Investment and Growth in Developing Countries', Journal of Development Economics, Vol. 48, No. 2,*
2. *Blejer, M. and M. S. Khan (1984), 'Government Policy and Private Investment in Developing Countries', IMF Staff Papers, Vol. 31, No. 2,*
3. *Booth, A. (1999), Initial Conditions and Miraculous Growth: Why is Southeast Asia Different from Taiwan and South Korea, World Development, Vol. 2, No. 2*
4. *Campbell, J. and N. G. Mankiw (1987), 'Permanent Income, Current Income and Consumption, NBER Working Paper No. 2436, NBER, Cambridge. Carroll, C. and D. Weil (1994)*

5. Central Statistical Organisation (CSO) (1988), *National Accounts Statistics: Sources and Methods*, Delhi.
6. Chibber, A., M. Dailami and N. Shafik (1992), *Reviving Private Investment in Developing Countries: Empirical Studies and Policy Lessons*, North-Holland, Amsterdam.
7. Chirinko, R. (1993) 'Business Fixed Investment Spending: Modeling Strategies, Empirical Results and Policy Implications', *Journal of Economic Literature*, Vol. 31, No. 4.
8. Choudhuri, Uma Datta Roy (1988), 'New Series on National Accounts Statistics, Economic and Political Weekly', Vol. 23, No. 30
9. Choudhuri, Uma Datta Roy and A. Bagchi (ed.) (1990), *Domestic Savings in India: Trends and Issues*, Vikas Publishing House, Delhi.
10. Collins, S. (1994), 'Saving, Investment and External Balance in South Korea', in S. Haggard, R. N. Cooper, S. M. Collins, C. Kirn, and S. Ro (eds), *Macroeconomic Policies and Adjustment in Korea, 1970-1990*, The MIT Press, Cambridge, Mass.
11. Collins, S. and B. Bosworth (1996), 'Economic Growth in East Asia: Accumulation Versus Accumulation', *Brookings Papers on Economic Activity*, No. 2
12. Corbo, V. and K. Schmidt-Hebbel (1991), 'Public Policies and Saving in Developing Countries', *Journal of Development Economics*, Vol. 36, No. 1
13. CSO (1989), *National Accounts Statistics: Sources and Methods*, Central Statistical Organization, Department of Statistics, Government of India, New Delhi.
14. Davidson, J.E.H., D.E. Hendry, E. Saba and S. Yeo (1978), 'Econometric Modelling of the Aggregate Time—Series Relationship between Consumers' Expenditure and Income in the United Kingdom', *Economic Journal*, Vol. 88, No. 352,
15. Davidson, P. (1986), 'Finance, Funding, Saving and Investment', *Journal of Post Keynesian Economics*, Vol. 9, No. 1
16. Bleaney, M. (1996), 'Macroeconomic Instability, Investment and Growth in Developing Countries', *Journal of Development Economics*, Vol. 48, No. 2
17. Blejer, M. and M. S. Khan (1984), 'Government Policy and Private Investment in Developing Countries', *IMF Staff Papers*, Vol. 31, No. 2,
18. Booth, A. (1999), *Initial Conditions and Miraculous Growth: Why is Southeast Asia Different from Taiwan and South Korea*, *World Development*, Vol. 2, No. 2.
19. Campbell, J. and N. G. Mankiw (1987), 'Permanent Income, Current Income and Consumption', *NBER Working Paper No. 2436*, NBER, Cambridge.

# Isvar Chandra Vidyasagar: An Analysis

Nirmala Shah

Research Scholar, Zakir Husain Centre for Educational Studies,  
Jawaharlal Nehru University, New Delhi



shodhshree@gmail.com

**T**he second half of the nineteenth century witnessed the emergence of a great Sanskrit scholar Iswar Chandra Bandyopadyay. He was a great educator, reformer and humanist. He promoted the education of the non-Brahman and worked for the growth of the Bengali language. Also, he promoted women's education and dedicated his life to the cause of women's issue. So, Iswar Chandra Bandyopadyay is aptly known also as Vidyasagar, Karunasagar and Dayarsagar. It is accepted by all that Vidyasagar fills a unique place in Indian history. One can note that while 'Ram Mohan Roy represented the new aspirations and the earnest work of the first generation of his countrymen in the nineteenth century, Vidyasagar reflected their arduous endeavors in the second'. Also both Ram Mohan Roy and Vidyasagar were first to make the right response to the western thought along with retaining indigenous tradition and move towards modernization. But Vidyasagar never confused modernization with westernization. As David Kopf has rightly pointed out:

*Vidyasagar's was a 19th century view of objective truth. He was positive, he would find it if the means he employed to pursue truth were sound and rational. He favored the modern learning of the west not because it was western, but because west had broken away from an uncritical unthinking reverence for tradition. And he sought to use the western achievement to revitalize his own civilization.*

In this paper Vidyasagar's activities in the field of education and social reforms is looked into. His educational activities can further be divided into- work in Sanskrit college; ideas on the medium of education and languages to be learnt; work for popular education; and founding and running of schools and colleges etc. Similarly, social reform activities can be divided into his campaign against child marriage: for widow remarriage: against polygamy: and for women's education.

## Background

Before moving further it is important to look into the background of Vidyasagar. Iswar Chandra was born on 26 September 1820, in a small village called Birsingha in the district of Midnapore, in a Brahman pundit family. However, his family at that time was economically not well off and the

economic activities necessary for the running of the household was carried out by the females of the family. So the females of the household were the bread-earners and as will be seen, this seems to have an enormous impact on Vidyasagar later on when he decided to take up the issues for the welfare of women. Subsequently, his father took Vidyasagar along with him to Calcutta. While on the way, he told his father, "as we walk ahead on this road, I shall come to learn the English numerals and he was able to achieve it"<sup>4</sup>. This is seen as a big achievement of the small boy who was able to learn the English numerals just by looking at the milestones. Later he reckoned diffusion of Western knowledge to be the first milestone on the path of social advance. His view widened towards other milestones of rational morality and enlightened social conscience. During the period from 1829 onwards, when Vidyasagar was admitted in college, it was a period of turmoil in Bengal. By this time the names of important personalities- orientalist like William Jones and Horace Hayman Wilson; missionaries like William Carey and Alexander Duff; and indigenous reformers like Rammohan Roy and Keshub Chunder Sen were widely known. In Hindu College, the agitation of Derozio and Ram Mohan Roy's movement were going on. So it is here that he was exposed to the Conservatives (the Orthodox Hindus), the Moderates (the Brahmos) and the Radicals (the Derozians) who were disposed in the social scene in the 30s of the 19th century, when Iswar Chandra was in the college.

Later on in 1839, after getting creditably through the Alankara, Vedanta and Smriti classes, he appeared for the Hindu Law Committee's examination and qualified himself to hold the office of Hindu law officer in 'any of the Established Courts of Judicature'. At this time Vidyasagar was eager to accept the post for financial reasons but his father wanted him to complete his studies. In 1841, he completed his studies. As soon as he passed from the Sanskrit college in 1841, he was appointed as Sheristadar, or Head Pundit in the Fort William College in 1849. Subsequently, in 1851, he was appointed Principal of the Sanskrit College and it is here that his activities were directed towards educational and social reforms. However, in November 1858

he resigned from the post of Principal.

It is important to note that 'Vidyasagar was famous for his spiritedness, truthfulness, frankness and love of independence. He never flattered anybody, nor was he ever daunted by the threats of malicious persons'<sup>4</sup>. Vidyasagar was keenly conscious of his 'individuality'<sup>5</sup>, and that's why he always comes into conflict with others who could not agree with him. Indeed, he resigned from various posts due to this. So, Vidyasagar's resignation from one post after another can be seen as his 'incapacity of team work'. Vidyasagar never hold a post for a longer period. In 1841 he worked at Fort William College; in 1846, worked as Assistant Secretary in Sanskrit College (for 15 months); then started printing and publishing books in partnership with Madan Mohan Tarkalankar in 'Sanskrit Press and Depositary'; and again in 1850 joined Sanskrit college for the second time. Here, one can see that within a short period of nine years he resigned and joined many posts. This suggests that he was not ready to compromise with any of his principles and also he never seem to have sought anybody's opinion on any matter.

### **Educational Activities**

Vidyasagar always emphasized on combining Sanskrit and English learning along with the content of education to be 'science and civilization' of the western world, i.e., of including the modern knowledge into the curriculum along with Sanskrit and points:

*The acquirement of the largest store of sound Sanskrit and English learning combined, under the impression that such training is likely to produce men who will be highly useful in the work of imbibing our vernacular dialects with the science and civilization of the western world.*<sup>6</sup>

Vidyasagar realized that to imbibe modern thoughts, the people must be free from the influence of the religious ideas. He was of the opinion that change in the society's outlook has to come from within and not from without, simply by opposing Hindu orthodoxy, or any other religious belief<sup>7</sup>. This led Vidyasagar to devote himself to the cause of modern education based on science and rationality that could inspire people in life-struggle on the strength of self-confidence and sense of social obligation. As

Haldar points out 'such an education was not to produce scholars, pandits or rootless protagonists of westernization; it was to make people worthy of human dignity'. So, the need for new curricula and development of vernacular, its language and literature was felt by Vidyasagar. In 1852, his comprehensive and thorough planning could be seen in the 'Notes on the Sanskrit College'. In this one can find that it not only shows his rational and materialist outlook but also shows the broadness and depth of his vision.

The 'Notes on the Sanskrit College' focused on various important aspects for the promotion of learning among the common people. It focused on the supreme importance of creating an enlightened Bengali literature and on 'the responsibility of good Sanskrit scholar to evolve an elegant, expressive and idiomatic Bengali style'. Further, Vidyasagar also stressed on combination of some learning of Sanskrit with that of English language and literature and of the 'three branches in English, namely History, Mathematics and Natural Philosophy'. And for the extension of benefits of education to the masses, Vidyasagar emphasized on the establishment of vernacular schools.

This suggest that Vidyasagar wanted to replace the traditional education based on religious thoughts, blind faith and dogmatism by science and rationalism, through vernacular language, so that they could reach the students and common people of the country.

### Mass Education

Vidyasagar was far ahead of his times. He treated humans as equals and wanted to eliminate the distinction of caste and creed. Another achievement of Vidyasagar is his attempt to admit non-Brahman in college for the first time. However his opponents raised hue and cry denouncing this as an attack on purity of Hindu religion and as a result he has to face huge criticism. But to answer these opponents, Vidyasagar asked them a simple question:

*How could a non-Brahman like Radhakanta Deb or mleccchas like the Englishmen be taught Sanskrit by the same pundits who were objecting to the admission of non Brahman students in the Sanskrit college? Was it because they paid the pundits handsomely?*<sup>20</sup>

These simple questions are very important as these exposed the hypocrisy of the opponents and silenced them in humiliation.

However, Vidyasagar is criticized for the fact that apart from Kayasthas, no other caste was admitted. Here it is important to note that the Kayasthas is a fluid category and hence his attempt to admit other castes did not succeed totally. However it is important because Vidyasagar has made an attempt for admitting them. But the question still remains why he not even tried to open the gates of education to the lower caste?

### Literary Works

Further, to make learning of Sanskrit easy in 1851, he wrote Upakramanika, a book of Sanskrit grammar. Later on between 1853 and 1862, he managed to write a more elaborate book on Sanskrit grammar Byakaran Kourmudi. In 1855 for simple primary books for learning Bengali language, he wrote Barnaparicay. In 1848, he wrote Vetat Panchavinsati. Further he wrote and translated many works- Bodhoday, Kathamali, Caritabali, Sitar Banabas, Bhrantibilas (of Shakespear's 'the comedy of errors'), Shakuntala (an adaptation from Kalidasa), and so on. Therefore he is aptly known as 'the Father of Modern Bengali Prose'.

Apart from books for mass education, establishment of schools were necessary. Therefore, between August 1855- January 1856, he set up 20 schools in different villages. Again between November 1857- May 1858, he set up 35 schools on his own expenses for girls. In 1849, Bethune opened school for girls and Vidyasagar became its secretary in 1850. Now that the schools were set up, books written, but to improve the quality of teaching, Vidyasagar founded a Normal School to train teachers in premises of the Sanskrit college. Akshay Kumar Dutta became Principal of this institution.

It is important to note that although Vidyasagar was in favor of mass education, in the letter to River Thompson, Junior Secretary to the Bengal government, on September 29, 1859, Vidyasagar opposed government's proposals for mass education. He said,

*As the best, if not the only practicable means of*

*promoting education in Bengal, the government should, in my humble opinion, confine itself to the education of the higher classes on a comprehensive scale. By educating one boy in a proper style the government does more towards the real education of the people, than by teaching a 100 children were readily writing and little of arithmetic.*<sup>11</sup>

The reason could be the financial constraints that the Bengal economy was facing at that time which must have compelled Vidyasagar to pass such statement.

Asok Sen has categorized his reforms as: his resolute move to admit students of the Kayastha caste to the Sanskrit College; his ruling that the college would remain closed on Sundays and not as before according to the restrictions of the Hindu almanac; wholesome support for non orthodox system of learning that had already begun to prevail in the sphere of English education; and his concern for the reception of modern knowledge and rational thought through the medium of Bengali, language of people.<sup>12</sup>

Although Vidyasagar belonged to Brahman background, he was not in favor of uncritical acceptance of age old metaphysics. He established Metropolitan institution for higher education in 1864. So it can be said that Vidyasagar has risen above the old stereotype of typical Brahmanical tradition and moved ahead and begun to think for the humanity.

### **Social Reform**

"No cause was nobler or dearer to him than this, and against nothing did he fight so intrepidly as he did against subjection of women"<sup>13</sup>. He took up concrete issues like widow remarriage, polygamy, etc. and chose his methods and techniques of campaign with intrepidity. Although the issues of compulsory celibacy of widows and polygamy were dealt earlier by Ram Mohan Roy (Atmiya Sabha and Young Bengal), Iswar Chandra Vidyasagar was the first to make the question a cause and the object of an immediate campaign. Vidyasagar's reform activities can be seen in four broad areas- child marriage, widow remarriage, polygamy and kulinism and women's education.

**Child marriage and the Age of Consent for girls**

The year 1850 saw Vidyasagar's debut in the form of an essay on 'The Evils of Child Marriage' in

Sarbasubhakari Patrika edited by Matilal Cattopadhyay. His arguments against marriage of girls at an early age, were based initially on the shastras and then on humane considerations, but lastly he pleaded in a very practical manner and expressed that the early marriage of girls deprived them of education and made them incapable of giving proper training to their children. Before Vidyasagar, Iswarchandra Gupta had already been writing on the subject in the Sambad Patrika in 1849. However, later on he did not feel the necessity to dwell on this problem again. The reason was Vidyasagar's disappointment with the Bengali society's lukewarm response to his essay. But the efforts did not stop here and other people continued to write against it. The significant point is that Vidyasagar put his beliefs into practice, and did not give his own daughters in child marriage.

### **Age of Consent Bill**

During the later years of Vidyasagar's life, a bill had been introduced into the Legislature Council for amendment of the Indian Penal Code and the Criminal Procedure Code on certain sections relating to the Age of Consent on the part of females to sexual intercourse. The Government asked Vidyasagar for his opinion on the matter. In this connection also Vidyasagar sought recourse to the religious scriptures. He studied deeply the different shastras on religious points, and on the 16th February 1891, gave his opinion opposing the Bill in the form in which it had been introduced into the Council. His opinion was that the Garbhadhana Sanskara, binding on every Hindu, and as there was no certainly at what age a female might have her first menses (the period when the garbhadhana sanskara should be performed), the placing of a restriction on the age limit for the consent of the female would be a direct interference with the religious customs of the country. He, therefore, indicated a way in accordance with the shastras, which if adopted would give the desired protection to the child wives.

Vidyasagar has always sought recourse to the shastars. The reason could be that he believed that people could not be made to follow anything by force but the religious acceptance is necessary for making people accept.

But this time the government did not accept his views. In spite of his very reasonable opposition, the Bill was passed. So, one can see that although he tried hard to fight against the evils of child marriage and for the protection of child-wives, his measures could not succeed.

### **Widow Remarriage**

The movement for Widow Remarriage of Hindu widows advocated by Vidyasagar is very important. The attitude to social reform, which took concrete shape in favor of widow remarriage and against polygamy has a long history behind it.<sup>14</sup> It was questioned whether life long celibacy (brahmacharya) was feasible for younger widows. Vidyasagar found that there was Shastric acceptance of Widow Remarriage.

The Act legalizing widow remarriage was passed on 26 July 1886 whereby it was declared that 'no marriage contracted between Hindus shall be invalid and the issue of no such marriage shall be illegitimated by reasons of the woman having been previously married or betrothed to another person who was dead at the time of such marriage, any custom and any interpretation of Hindu law to the contrary notwithstanding'<sup>15</sup>. This does not mean that the society accepted widow remarriage as it is evident that Vidyasagar had to face bitter criticism and also physical attacks. But Vidyasagar did his best to promote widow remarriage and in most cases he used to finance such marriages from his own pockets. The first Widow Remarriage took place on 7 December 1856. The bridegroom was a junior colleague of Vidyasagar at Sanskrit college- Sris Chandra Vidyaratna. For Vidyasagar and his friends it was the moment of triumph and hope; for the opponents of anger and vituperation. Later on in 1870 his own son Narayan was married to a sixteen year old girl who was a widow, against the objection of his family. However later on due to various reasons Vidyasagar was disappointed of his act. With the Sepoy outbreak of 1857- the British rulers turned cold to the social reform movement.

### **Polygamy and Kulinism**

The passing of the widow remarriage Act in 1856 encouraged Vidyasagar to take up the cause against Polygamy and seek its abolition through the same channel, i.e., through a legislation

banning polygamy. Vidyasagar was at the forefront of the agitation to legally abolish polygamy. Although Vidyasagar applied himself heart and soul to the cause but his aim could not be achieved. On the 27th December 1855, he submitted to government a petition subscribed by 25000 persons, among whom there were Maharaja Mahatap Chand Bahadue of Burdwan and a number of influential and leading personages, asking for legislation for the prevention of the practice of polygamy among the Hindus. In the course of one year, a number of similar petitions were submitted to government. But the attempts of the petitioners failed. After passing the Widow Remarriage Act despite opposition from the majority, the government thought it inadvisable and unsafe to force upon the subjects another such law against their will. Moreover, after the Revolt of 1857, which broke out shortly after the legislation on widow marriage was passed, the authorities were now reluctant to interfere in the social and religious matters of Indians.

Vidyasagar in a petition to Government of India wrote that the Kulins 'marry solely for money and with no intention to fulfil any of the duties which marriage involves'<sup>16</sup>.

However, counter petitions were also sent in defense of polygamy led by Radhakant Deb. Vidyasagar pointed that 'Kulinist Polygamy was making the Brahmans a class of unproductive parasites and the socio-religious institution of marriage a perennial source of democratization'<sup>17</sup>.

He further argued that these married and unmarried girls, and the wives of Kulins, naturally live a miserable life and it is said that crimes of the most heinous nature, such as adultery, abortion, infanticide and prostitution are the common results of this system of Kulin marriages. However, despite several attempts made by Vidyasagar to abolish polygamy, he could not succeed in his efforts. As Haldar points out, 'widow remarriage campaign had at least obtained partial success, it got legal sanction but the campaign against Polygamy and Kulinism in particular in Bengal was not able to get even that legislative seal'.

### **Women's education**

To promote women's education, Vidyasagar again

took recourse of shastras and pointed that 'female education had the sanction of the Shastras'<sup>18</sup>. For this also he tries and struggled a lot. One of his first activities for the cause of women's education consisted of his service to the Bethune school as its first and capable honorary secretary. Then he founded a number of girl's school in villages when he was the special inspector of schools. This led him into conflict with authorities and finally he resigned from the post. He also opened and ran girl's school at Birsingha at his own expense. He had lifelong interest in the cause of women's education and in their higher education also. For example his happiness was overflowing at the success of Chandramukhi Bose, the first woman M.A of the Calcutta University. His service in amelioration of women's condition can also be noted in this connection. For example, the opinion on the consent bill was written in 1890-almost on his death bed.

In the Education Dispatch of 1854 the court of directors recognized for the first time the need and importance of women's education in India. This was the first time when the girl's schools were included among the schools to which new grants in aid scheme could be extended. Between November 1857- May 1858, 35 schools were established at his own expense. However vidyasagar's attempt at women's education was making but little headway against strong social prejudices. There was early withdrawal by the guardians. Girls were only allowed reading, writing and rudimentary arithmetic with some needle work.

However, in the mid 1860s, Miss Mary Carpenter proposed a Normal School for the training of female teachers and asked for Vidyasagar's opinion. Vidyasagar opposed it but still Normal School for training of female teacher's was opened in Bethune School building. Asok Sen points that Vidyasagar opposed its formation because he held that 'there is little or no chance of securing such females to enter the proposed Normal Class'<sup>19</sup>. The reason put forward by him was that the custom of the country don't allow the respectable women who has passed the age of 12 to attend a school for instruction. However it failed but Vidyasagar resigned. So, one can find that although Vidyasagar's efforts had to face some failures but his efforts for the promotion of

women's education is of immense importance. It can be said that whatever he did, he in the first place would try and understand the social reality and then propose whether to move forward or not.

### **Vidyasagar- A Reassessment**

One of the biographers of Vidyasagar, Benoy Ghosh pointed, "Vidyasagar was far ahead of his times. Vidyasagar emerged as a towering personality in his response to the challenge of his times; his appreciation of the need for social change and his steadfastness of purpose made him a great social reformer".

Vidyasagar was the biggest fighter for the cause of womankind. While working within the mainstream of Hindu life, he retained his unique and self reliant individualism. It is also important to note that whatever he does, he does it as a Brahmin and whenever he criticized anything, he says it is what a true Brahmin should do. He emphasized more on 'true brahminism'. Hatcher characterized Vidyasagar as 'Brahmin of Brahmins and Pundit of Pundits'<sup>20</sup>. So, every time to forward his opinion he took the complete accord of the shastras.

However, Vidyasagar's educational and social reforms had a limited character, partly due to the times and partly to the narrow social base of Bengal Renaissance- a Hindu Bhadrakalok affair. Widow Remarriage or ban on polygamy concerned only a small minority, though they consumed the energy of the biggest fighter in the cause of the womankind of the times. It is not the particular item of reform (widow remarriage, ban on polygamy etc.) but the attitude of the man, his social outlook, the strength and character and the courage and determination that the idea remains relevant here and that will remain so always. Despite this fact that some of his efforts were not meant for the majority of the women but Vidyasagar, due to his efforts for the women's welfare was famous among the mass and is evident from the fact that popular verses and songs, the folk songs on the widow remarriage campaign were woven into sari borders by weavers of Krishnanagar and Santipur.

Vidyasagar's civil, social efforts and bold perspectives on education presented an endeavor to redeem his society from its narrowness. But

despite his brave and noble efforts, Vidyasagar could not achieve the goals which he had set forth in the sphere of education and social reforms.

One of the reasons for the failure of Vidyasagar put forward by Asok Sen lies in the economic and social condition of Bengal during that time.<sup>21</sup> Stagnation agricultural economy and subinfeudation; country's older industries destroyed due to unrestricted imports of cheaper British manufacturers (deindustrialization); and British capital monopolized limited growth of factory industries. This economic crisis had over taken the middle class itself and influenced the social, political and ideological developments of the period. Here it would be important to note that the economic and social crisis should have helped in the encouragement and acceptance of education to come out of the situation of the crisis.

Amalesh Tripathi has called Vidyasagar the 'traditional modernizer'. For him, traditional elements in Vidyasagar consist of his caste origin, Sanskrit scholarship and the sartorial style of habitually wearing a coarse dhoti, a plain chadar and a pair of native slippers.

### Conclusion

it can be said that whatever he did, he did it wholeheartedly. His contribution to the educational development and social reform movements are the key issues of his program. Vidyasagar's approach was student oriented and progressive in outlook. He advocated for radical changes and always kept himself away from religious topics. He was a philanthropist. But it is pity that during the last years of his life he remained in isolation. One of the reasons why he remained isolated was that whatever he did, he wanted his supremacy in that and not bothered to take opinion of others.

Writing about Vidyasagar, Michael Madhusudan Dutta, the renowned poet of the 19th century Bengal points, "Vidyasagar has the genius and wisdom of an ancient sage, the energy of an Englishman and the heart of a Bengali mother..."<sup>22</sup>

The efforts of Vidyasagar in improving the society and moving it away from the clutches of tradition is remarkable and even in the present times is of great relevance.

### References

1. S. C. Mitra, 'Iswar Chandra Vidyasagar', Delhi, Ashish Publishing House, 1975, Introduction
2. Quoted in S. K. Adhikari, 'Vidyasagar: Educator, Reformer and Humanist', Calcutta, Sahitya, 1995, p.
3. Asok Sen, 'Iswar Chandra Vidyasagar and his Elusive Milestones', Calcutta, Riddhi India, 1977, p 3
4. S C Mitra, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p 14
5. S C Sengupta, 'Vidyasagar: An Appraisal', in 'The Golden Book of Vidyasagar', Calcutta, Vidyasagar Charitable Society, 1993.
6. Gopal Halder, 'Vidyasagar: A Reassessment', Delhi, People's Publishing House, 1972, p. 55.
7. A. K. Ray, 'Vidyasagar on Education', in Golden Book of Vidyasagar, p. 68.
8. Asok Sen, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p. 24-25.
9. Ibid, p. 25.
10. S. K. Gangopadhyay, 'The Long Walk', p. 46.
11. A. K. Ray, 'Vidyasagar on Education', p. 74-75.
12. Asok Sen, 'Iswar Chandra Vidyasagar',
13. Benoy Ghosh, 'Iswar Chandra Vidyasagar', Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1965.
14. Benoy Ghosh, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p 78)
15. Benoy Ghosh, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p. 93.
16. Benoy Ghosh, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p. 110.
17. Ibid, p. 118
18. Asok sen, 'Iswar Chandra Vidyasagar', p. 32.
19. Ibid, p. 32.
20. Hatchar, 'No Slave to Custom', in 'The Golden Book of Vidyasagar', p. 127
21. Asok Sen, 'Iswar Chandra Vidyasagar and his Elusive Milestones', p. 4-5.
22. Ibid p. 14.



# Shodh Shree

(Referred Journal of Multidisciplinary Research)  
ISSN 2277-5587 RNI No. RAJHIN / 2011 / 40531

54A, Jawahar Nagar Colony, Tonk Road, Jaipur - 302018  
Shodhshree@gmail.com

## Subscription Form

Name .....

Designation .....

Name of Organization .....

Address .....

District .....

State .....

Pin .....

Tel. No. (R) .....

Mobile .....

e-mail .....

Date

(Signature)

**Frequency :** Shodh Shree is Published four time in a year (Quarterly) i.e. January, April , July & October.

**Mode of Payment :** Subscription fee can be deposit through online Banking.

**Bank Details :** Virendra Sharma, OBC Bank, Adarsh Nagar, jaipur

SB A/C No. 06722151002965, IFSC Code ORBC 0100672, MICR Code 302022005

Subscription Fees 1200 Rs (For Individual and Institution)

Membership No. ....

Date .....

(For Office Use only)

## DECLARATION FORM FOR CONTRIBUTORS

I.....  
hereby declared that the paper entitled'.....  
.....'is unpublished original paper which is not sent any where  
for publication.

This paper is prepared by me/jointly with.....  
.....which is  
exclusively for your journal entitle 'Shodh Shree'.

I/We will not demand any honorarium for the same expect one copy of the  
Journal in which this paper will appear. Please send copy of the Journal at the  
address of author whose name is appeared at first,

Copy right of matter is with Shodh Shree. I/We will not reproduce it in any  
other journal of book except prior permission of the Chief Editor.

Signature .....

Name .....

Designation .....

Official Address .....

Residential Address .....

Phone No. .... Pin No. ....

e-mail Address .....

## Guidelines for the Contributors

1. All research paper must be typed in pagemaker and use KRUTI DEV 010 font for Hindi or Times New Roman Font for English can submit by C.D. or through e-mail.
2. A separate list of references should be given at the end of the paper and not at each page. Footnotes may be given on the same page if any technical term needs some explanation.
3. Table, Model, Graph or Chart should be on separate pages and numbered serially with appropriate heading.
4. Maximum word limit of research paper up to 1500 words.
5. Special care should be taken to avoid spelling errors and grammatical mistakes in the paper otherwise it will not be accepted for publication.
6. The author(s) should certify on a separate page that the manuscript is original and it is not copyrighted.
7. The copyright is Reserved for 'Shodhshree' for All Research papers and Book Reviews, published in this journal.
8. Publication of research paper would be decided by our editorial board or subject specialist.

**Book Review :** For Book Review to be included in this journal only reference books and research publications are considered. One copy of each such publication must be submitted to the Editor:

**Note :** Shodh Shree have copyright on papers published in the journal therefore, prior permission is necessary for reproduction of paper, anywhere by author or other person. However, papers published in the journal may be freely quoted in further study. All disputes are subject to jaipur jurisdiction.

Research Paper may be sent to our e-mail: [shodhshree@gmail.com](mailto:shodhshree@gmail.com)  
For any assistance, Please Contact Dr. Ravindra Tailor - 09413224134

To,

प्रिन्टेड मैटर

If undelivered please return to :

**शोध श्री** (त्रैमासिक)

54-ए, जवाहर नगर कॉलोनी

टॉक रोड, जयपुर-302018

स्वात्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक, प्रधान सम्पादक - वीरेन्द्र शर्मा के लिए मुद्रित व 54-ए,  
जवाहर नगर कॉलोनी, टॉक रोड, जयपुर-302018 पो. 9460124401 से प्रकाशित।  
मुद्रण स्थल आकृति एड्वरटाईजर्स, जयपुर